मार्च १९४१ : १०००

मूल्य

बारह आना

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय,
मन्त्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
कनाट सर्कस, नई दिल्ली

—मुद्रक,
एम० एन० ठुलल,
फेडरल ट्रेड प्रेस,
देहली

विषय सूची

संसार की राजनीतिक प्रणालियां

[दूसरा भाग]

: १ :

सोविएट रूस की राजनीतिक प्रणाली

अभी थोड़े ही दिन पहले सोविएट रूस में एक बहुत जबरदस्त, उग्र और हिंसापूर्ण राज्य-क्रान्ति हुई थी, जिसने सारे देश की काया पलट दी और इसके परिणाम अभी तक बराबर होते ही चलते हैं। यो तो महायुद्ध के बाद प्रायः सभी पराजित देशो मे क्रान्तियाँ हुई थी; और खासकर इधर हाल मे इटली और जरमनी मे भारी फैसिस्ट क्रान्तियाँ हुई है; परन्तु रूस की साम्यवादी क्रान्ति उन सभी क्रान्तियो से कई बातो मे बहुत जबरदस्त हुई है, और उससे होनेवाले उलट-फेर भी बहुत बड़े हैं।

रूस की इस क्रान्ति ने वहाँ के केवल राजनीतिक यन्त्रो और राजनीतिक संस्थाओ मे ही नही, बल्कि वहां की सारी आर्थिक तथा सामाजिक प्रणाली में भी बहुत बड़ा परिवर्तन कर दिया है।

रूस की प्रणाली की तुलना प्रायः इटली और जरमनी की प्रणालियो के साथ की जाती है; और इसमे सन्देह नहीं कि बहुत सी बातो में इनमें बहुत कुछ समानता भी है। परन्तु इन सबको समान बतलाना कभी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। हां, वह अर्द्ध सत्य अवश्य है। ये समानताये केवल इसीलिए हैं कि सभी देशो के निवासियो मे बहुत कुछ समानताये हुआ करती हैं; फिर वे चाहे जिस प्रणाली के अधीन रहते हो। जब समाजो के सामने कुछ खास काम होते हैं, तब उन्हे बहुत कुछ समान उपायो से ही काम लेना पड़ता है। जिन समाजो को दूसरों के आक्रमणो से आत्म-रक्षा करनी पड़ती है या अपने देश की उपज और पैदावार जल्दी-जल्दी बढ़ानी पड़ती है, उन्हे प्रायः

ऐसे ही उपाय करने पड़ते है जिनसे सारी जनता इन उद्देश्यों की सिद्धि मे मिल कर काम कर सके।

फैसिस्टो और कम्यूनिस्टों के सिद्धान्तों में भी कुछ बातें एक ही सी है। खासकर दोनो ही यह चाहते हैं कि राज्य की शक्ति और अधिकार बढ़ें। लेकिन इस प्रकार की मुख्य समानताये प्रायः राजनीतिक कार्रवाइयो और उपायों मे ही होती हैं। यह ठीक है कि रूस की राजनीतिक कार्रवाइयाँ और कार्य-प्रणालियां बहुत से अंशो मे फैसिस्टो की राजनीतिक कार्रवाइयो और कार्य-प्रणालियो से मिलती-जुलती है। परन्तु वास्तव मे इन दोनों में बहुत बड़े और ऐसे भेद भी हैं जो इनके मूल सिद्धान्तो से सम्बन्ध रखते हैं, और जिन्हे हम तात्त्विक भेद कह सकते हैं।

रूस की राज्य-क्रान्ति—रूस की जिस राज्य-क्रान्ति ने आगे चल कर रूस की सोविएट शासन-प्रणाली को जन्म दिया था, उस का सूत्रपात सन १९१७ में उस समय हुआ था, जबकि यूरोप का महा-युद्ध जोरों से चल रहा था। यह क्रान्ति वास्तव मे क्रान्तिकारियो ने नहीं की थी, बल्कि वे एक प्रकार से इसके लिए विवश से हो गये थे। उस साल रूस की जार-शाही का इसलिए आप-से-आप अन्त हो गया था कि न तो वह युद्ध मे ठहर ही सकती थी और न देश की आन्तरिक व्यवस्था ही कर सकती थी।

जिस समय जार-शाही का अन्त हुआ, उस समय नये नेता बहुत फेर में पड़ गये थे। वे उस समय किसी तरह की क्रान्ति करने के लिए तैयार नही थे। लेकिन जार-शाही का अन्त हो जाने पर उन्हे विवश होकर उसके स्थान पर एक नई शासन-प्रणाली स्थापित करने का काम अपने हाथ में लेना पड़ा था। उस समय उन्होने पश्चिमी यूरोप के ढंग पर पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली ही देश में स्थापित करने का प्रयत्न किया था, क्योंकि और किसी तरह की शासन-प्रणाली स्थापित करने के लिए वे तैयार ही

नहीं थे।

लेकिन वह पार्लमैण्टरी शासन-प्रणाली छः महीने से अधिक ठहर ही न सकी, और इस बीच में भी कभी शासन के वास्तविक अधिकार वहां की पार्लमैण्ट के हाथ में नही आये। बल्कि यह कहना चाहिए कि इन छः महीनो तक रूस मे किसी तरह की सरकार थी ही नहीं। एक ओर तो बिलकुल भयभीत और असहाय अस्थायी सरकार थी; और दूसरी ओर पसोपेश मे पड़े हुए मजदूरों और कमकरो का आन्दोलन चल रहा था, जो ऐसी सोविएटे या पंचायतें कायम कर रहे थे जो न तो स्वयं ही किसी की कोई आज्ञा मानने के लिए तैयार थीं और न किसी से अपनी आज्ञाओ का पालन ही करा सकती थी।

जिस समय रूस के जार का पतन हुआ था, उस समय सारा पश्चिमी यूरोप और प्रायः सभी रूसी साम्यवादी यही समझते थे कि अब जल्दी ही यहां उसी तरह की पार्लमैण्टरी सरकार स्थापित हो जायगी, जिस तरह की सरकार और अनेक देशो मे स्थापित है। लेकिन मुश्किल तो यह थी कि रूस में ऐसी जमीन ही नहीं थी जिसमें पार्लमैण्टरी प्रणाली का पौधा लग सकता। केरेन्सकी के समय मे भी असली ताकत बहुत कुछ सोविएटों के हाथ मे रहती थी; और जब वे सोविएटे कोई काम कराने पर तुल जाती थीं, तो फिर वह काम कराके ही छोड़ती थीं। इसके बाद जब सोविएटें बोलशेविक नेताओ के हाथ में चली गईं और राज्याधिकार अपने हाथ में लेने के लिए तैयार हो गईं, तब केरेन्सकी की सरकार भी उसी तरह सहज में टूट गई, जिस तरह जार-शाही टूटी थी। उस समय सारा अधिकार इस नई क्रान्ति के विधाता लेनिन के हाथ में आ गया जो मजदूरो और कमकरों की ओर से एक अधिनायक के रूप मे देश का शासन करने लगा।

यूरोप के राजनीतिज्ञ अचानक अपने सामने एक बिल्कुल ही नई तरह की सरकार देख कर घबरा गये। यह नई सरकार ऐसी थी कि इसका शासन न तो प्रजा के चुने हुए पार्लमैण्टरी प्रतिनिधियों के ही हाथ में था और न किसी वंशानुक्रमिक स्वेच्छाचारी राजा के ही हाथ मे था, बल्कि आप-से-आप बनी हुई ऐसी सभाओ और समितियो के हाथ मे था जिसके सब सदस्य या तो कारखानो मे काम करनेवाले मजदूर थे और या सैनिक; और इन सबका नेतृत्व तथा संचालन एक ऐसे क्रान्तिकारी दल के हाथ मे था जो बहुत ही व्यवस्थित और मर्यादित रूप से काम कर रहा था। मार्क्स ने मजदूरो और कमकरो के जिस अधिनायक तन्त्र का विधान किया था, वह यदि किसी ऐसे देश मे स्थापित होता जो शिल्प और उद्योग-धन्धो के विचार से यथेष्ट उन्नत होता और जहां के मजदूर और कमकर मिल कर काम करने की अच्छी शिक्षा पाये हुए होते तो शायद पाश्चात्य देशों को उतना आश्चर्य न होता। लेकिन कमकरो की यह सरकार उस पिछड़े हुए रूस में स्थापित हुई थी जहां कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों की अपेक्षा किसानों की संख्या ही कहीं अधिक थी, और जिस देश को किसी तरह के लोक-सत्तात्मक शासन का अबतक कोई अनुभव ही नहीं हुआ था। और पश्चिमी यूरोप के लिए यही सबसे अधिक आश्चर्य और भय की बात थी।

अक्तूबर १९१७ में रूस मे जो राज्य-क्रान्ति हुई थी, उसने सबसे पहले सारे संसार को यह सिद्ध कर दिखलाया था कि पार्लमैण्टरी शासन के विकास के लिए पहले से किसी तरह की तैयारी की कोई आवश्यकता नहीं है। मतलब यह कि साम्यवाद की विजय के लिए यह आवश्यक नहीं है कि देश को पहले से प्रतिनिधि-सत्तात्मक या प्रजातन्त्री शासन-प्रणाली का अनुभव हो। अबतक यूरोपवाले यही समझते थे कि जिस देश में

एकतन्त्री या राजसत्तात्मक शासन-प्रणाली होती है—जहाँ का शासन किसी स्वेच्छाचारी राजा के हाथ मे होता है—वहाँ उसका स्थान सबसे पहले प्रतिनिधि-सत्तात्मक या पार्लमैण्टरी शासन-प्रणाली ही ले सकती है।

लेकिन रूस के इन नये क्रान्तिकारियो ने यह सिद्ध कर दिखलाया था कि केवल पार्लमैण्टरी शासन-प्रणाली ही एकतन्त्री शासन-प्रणाली का स्थान ग्रहण करने की अधिकारिणी नहीं है, बल्कि उस से अधिक उन्नत और आगे बढ़ी हुई साम्यवादी शासन-प्रणाली भी सहज मे उसका स्थान ग्रहण कर सकती है; और इसके लिए देश को पार्लमैण्टरी शासन-प्रणाली के अनुभव की कोई आवश्यकता नहीं है। लेकिन संसार इस प्रकार की शिक्षाये सहज में ,ग्रहण करने के लिए तैयार नही था, क्योकि ये शिक्षाये उसके प्रचलित विचारो और धारणाओं के बहुत विरुद्ध पड़ती थीं।

इसीलिए १९१७ के बाद भी बहुत दिनो तक लोग बराबर यही कहते चलते थे कि रूस की सोविएट सरकार का बहुत जल्दी पतन हो जायगा, और उसकी जगह या तो फिर कोई निकम्मा एकतन्त्री राजतन्त्र स्थापित हो जायगा या पुराने ढंग का पार्लमैण्टरी प्रजातन्त्र स्थापित हो जायगा। और अगर इन दोनो बातो मे से एक भी बात न हुई, तो फिर रूस बहुत से छोटे-छोटे वैसे ही पिछड़े हुए कृषक राज्यो में विभक्त हो जायगा, जैसे कृषक राज्य पूर्वी यूरोप और दक्षिण-पश्चिमी एशिया मे पहले से चले आ रहे हैं। यहाँ तक कि यूरोप के बहुत से साम्यवादी भी यह कहने लग गये थे कि रूस के क्रान्तिकारियो को इस समय बोल्शेविक क्रांति करने का इस-लिए कोई अधिकार ही नही था कि रूस अभी तक साम्यवाद की स्थापना के लिए तैयार ही नहीं हुआ है। वह बहुत दिनों से ज़मीदारों के ही शासन में चला आ रहा था, और पूँजीदारों के

हाथ में रहने पर कोई देश कभी इतना विकसित हो ही नहीं सकता कि उसमे साम्यवाद की स्थापना हो सके।

जिन बोल्शेविक नेताओं ने शासन का अधिकार अपने हाथ में ले लिया था, उनमे से भी अनेक ऐसे थे जो यह समझते थे कि इस समय हम लोगो ने अपने हाथ में अधिकार लेकर बुद्धिमत्ता का काम नहीं किया है; क्योंकि उन लोगों का भी यही दृढ़ विश्वास कि साम्यवाद की स्थापना केवल उसी देश में हो सकती है जो ... और उद्योग-धन्धों में बहुत आगे बढ़ा हुआ हो। जो बोल्शेविक नेता राज्य का अधिकार अपने हाथ में लेने के पक्षपाती थे, उनमें से भी अधिकांश का प्रायः यही विश्वास था कि यदि हम सारे पश्चिमी यूरोप में इसी तरह की क्रांतियाँ न कर सकेंगे तो हमारी यह क्रान्ति भी अवश्य ही विफल हो जायगी। उन्हे भय था कि पश्चिमी यूरोप के पार्लमैण्टरी शासन-प्रणालीवाले देश हमारी इस नई शासन-प्रणाली को कभी जीवित न रहने देंगे; और इसीलिए वे सारे संसार में कमकरो और मजदूरोंवाली क्रांति करने का प्रयत्न करने लग गये। अक्तूबर १९१७ वाली क्रान्ति के कुछ दिन बाद तक सभी बोल्शेविक यही समझते थे कि हमारी यह क्रान्ति तभी सफल होगी, जब पश्चिमी यूरोप में भी इसी तरह की क्रान्तियाँ होंगी।

लेकिन सारे संसार में इस तरह की क्रान्तियाँ न तो होने को थीं और न हुई थीं। हाँ, उलटे पश्चिमी शक्तियाँ रूस का बहिष्कार करने लगीं और लगातार ऐसे लोगो को हर तरह की सहायता देने लगी जो इस नई क्रान्ति को विफल और विनष्ट करने का प्रयत्न करते थे। लेकिन फिर भी वे लोग किसी तरह सोविएट प्रणाली का नाश नहीं कर सके। धीरे-धीरे दूसरे देशों के राजनीतिज्ञो को यह मानना ही पड़ा कि अब यह प्रणाली रूस में स्थायी रूप से प्रचलित हो गई है और अब, जबकि

साम्यवादियो के हाथ मे पड़कर यह नया राज्य ठीक तरह से काम करता ही चलता है, तब यूरोप के प्रचलित राजनीतिक विचारो पर भी, और एशिया के कम विकसित देशो पर भी इस प्रणाली का प्रबल प्रभाव पड़े बिना न रहेगा, फिर चाहे पश्चिम के शिल्पी देशों की अपेक्षा रूस के साथ एशिया के देशों की कितनी ही कम समानता क्यो न हो। सभ्य जगत को अब विवश हो कर यह मानना ही पड़ता है कि संसार मे एक नई तरह का राज्य भी स्थायी रूप से स्थापित हो ही गया है; और इस राज्य के मूल में एक ऐसी नई सामाजिक तथा आर्थिक प्रणाली चल रही है जो पूँजीदारीवाली प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन-प्रणाली से उसी प्रकार भिन्न है, जिस प्रकार खड़िया से मलाई भिन्न होती है। इस प्रकार रूस में जो साम्यवादी क्रान्ति हुई थी, उसने सभ्य जगत को कई ऐसे सिद्धान्त मानने के लिए विवश किया, जिन्हे वे कभी मानना नहीं चाहते थे।

अब रूस और दूसरे पाश्चात्य देशो के बीच में केवल यही प्रश्न नहीं है कि देश के राजनीतिक संघटन का क्या स्वरूप हो? बल्कि उससे भी बढ़ कर विकट प्रश्न यह है कि सब जगह किस प्रकार की सामाजिक प्रणाली का प्रचलन हो? पुराने पार्लमैंएटरी देशो और यूरोप के नये राज्यों में वास्तविक अर्थ में प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना नहीं हो रही थी, बल्कि असल में पूँजीदारो के प्रतिनिधियों की सत्ता स्थापित हो रही थी। जगह-जगह जो नये संघटन-विधान बन रहे थे, उनकी आड़ में पूँजीदारी की प्रथा को दृढ़ और स्थायी करने का प्रयत्न हो रहा था। अथवा कम-से-कम इस बात का प्रयत्न हो रहा था कि आज-कल हर जगह मजदूरो का जो जबरदस्त आन्दोलन होने लगा है, उसके आघात से पूंजीदारी की प्रथा जहा तक हो सके, बचाई जाय।

सन् १६१८ में जरमनो का यह विश्वास था और कदाचित् ठीक विश्वास था कि विजयी मित्र-राष्ट्र हमारा राजकीय शेष साम्राज्य बिना नष्ट किये न मानेंगे। लेकिन कदाचित् यह कहने मे कोई हर्ज न होगा कि यदि मित्र राष्ट्र यह जानते होते कि रूस मे सोविएट प्रजातन्त्र स्थापित हो जायगा तो वे शायद उस समय भी कैसर को जरमनी के सिंहासन पर रहने देते और सोविएट प्रजातन्त्र का नाश करने मे उसकी सहायता लेने मे भी किसी तरह का संकोच न करते। महायुद्ध के बाद ही हर जगह जो बहुत जल्दी-जल्दी पार्लमेंण्टरी शासन-प्रणाली स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा था, उसका मूल कारण यह नही था कि लोग एकतन्त्री राजतन्त्र नष्ट करना चाहते थे, बल्कि उसका मुख्य कारण यही था कि लोगों के मन मे साम्यवादी क्रान्ति का बहुत भय उत्पन्न हो गया था।

इन सब बातों से पाठको को यह पता चल गया होगा कि आजकल भी संसार के अधिकांश राज्य क्यो सोविएट प्रजातन्त्र के इतने अधिक विरोधी हो रहे हैं, क्यों हर तरह से उसे बदनाम करना चाहते हैं और क्यों उसे नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इधर कई महीनों से यूरोप में जरमनी और इटली का इतना अधिक आतंक बढ़ जाने पर भी फ्रान्स और ब्रिटेन जल्दी रूस के साथ मिलना नहीं चाहते थे। लेकिन जब उन्हे यह विश्वास हो गया कि अब तो हमारे लिए रूस की अपेक्षा जरमनी और इटली ही अधिक घातक सिद्ध होना चाहते हैं, तब लाचार हो कर वे रूस के साथ मिलने को तैयार हुए थे।

लेकिन इस राजनीतिक काल मे भी जरमनी उनकी बाजी मार ले गया और उसने रूस के साथ समझौता करके फ्रांस और ब्रिटेन को चकित और विफल-मनोरथ कर दिया।

अस्तु। अब भी पाश्चात्य प्रेक्षकों के लिए रूस की सभी बातें

परम आश्चर्य-जनक है। उन्हे ऐसा जान पड़ता है कि यह देश अपने पैरों पर नहीं खड़ा है, वल्कि उलटे ढंग से, सिर के बल खड़ा है। अनेक ऐसी संस्थाये है जिन्हे पाश्चात्य देशो के निवासी, जन्म से ही अभ्यस्त होने के कारण, अपने लिए केवल परम आवश्यक ही नहीं, वल्कि नितान्त अनिवार्य भी समझते हैं। परन्तु जब वे रूस मे पहुँच कर देखते हैं कि हमारी वे सभी संस्थाये बिल्कुल नष्ट की जा रही हैं और उनकी जगह ऐसी नयी संस्थाये बन रही हैं जो उन पुरानी संस्थाओ के नितान्त विपरीत हैं और वे अपने सामने एक-से-एक नये विरोधाभास देखते हैं, तब उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रह जाता। उन्हे अपने सामने एक ऐसा देश दिखाई देता है जिसमे सभी सामाजिक सम्बन्ध बिल्कुल नये सिरे से स्थापित किये गये हैं और वह पेचीली वर्ग-व्यवस्था उन्हे कहीं दिखलाई ही नही देती जो और सभी पाश्चात्य देशो मे है। वहाँ या तो सभी पुराने सामाजिक विभाग नष्ट होते जा रहे है और या जबरदस्ती खपाये जा रहे हैं और उनकी जगह सारी जनता का केवल एक ही वर्ग दिखाइ देता है, जो सिर्फ पेशो और धन्धो के विचार से अलग-अलग दलों में बँटा हुआ है।

अन्यान्य पाश्चात्य देशो में भिन्न-भिन्न पेशो का जो सामाजिक मूल्य और महत्त्व समझा जाता है, उसकी अपेक्षा रूस में उन पेशो का बहुत ही भिन्न मूल्य और महत्व है। रूस में राज्य की तरफ से सब लोगो को भोजन बाँटा जाता है और सब लोगो को कुछ खास सुभीते भी दिये जाते हैं। पर किसी को साधारण और किसी को बढ़िया भोजन मिलता है, और किसी के साथ साधारण और किसी के साथ बहुत खास रिआयतें की जाती हैं। यदि केवल बँटनेवाले भोजन और की जानेवाली रिआयतों के ही विचार से देखा जाय और यह मान लिया जाय कि जिन्हे अधिक अच्छा भोजन और अधिक सुभीते मिलते हैं, वे उच्च वर्ग के लोग

है और जिन्हे साधारण भोजन और साधारण सुभीते मिलते हैं, वे निम्नवर्ग के लोग है, अर्थात् केवल भोजन और सुभीतो के तारतम्य से ऊँच-नीच का विचार किया जाय[1] तो पता चलता है कि रूस में सैनिक, ऊँचे दरजे के सरकारी अफसर और बहुत बड़े-बड़े और खास तरह के कारखानों मे काम करनेवाले मजदूर एक ही वर्ग में माने जाते हैं; और जो लोग काम नहीं करते, वे सबसे [illegible] में माने जाते हैं। इसके सिवा वहाँ के लोगों और सामाजिक जीवन के विचार और उद्देश्य स्त्रियो और पुरुषों के सम्बन्ध वहाँ बिल्कुल बदल गये हैं और स्त्रियों की स्थिति में भी बहुत बड़ा अन्तर हो गया है।

पाश्चात्य देशो के प्रेक्षकों और विशेपतः अँगरेजो को वहाँ जाने पर पता चलता है कि और देशों में राजनीतिक तथा आर्थिक बातों में जो बहुत बड़ा और स्पष्ट भेद होता है, उसका भी रूसी राज्य मे कहीं पता नहीं है। एक दृष्टि से रूस में प्रत्येक प्रश्न राजनीतिक प्रश्न माना जाता है, और हरएक कमकर राज्य का नौकर होता है। वे प्रेक्षक देखेंगे कि यहाँ सारे देश में केवल एक ही राजनीतिक दल है और वह दल ग्रेट ब्रिटेन या अमेरिका के संयुक्त-राज्यो के राजनीतिक दलो से उन्हे इतना अधिक भिन्न प्रतीत होगा कि वे उसका एक बिल्कुल अलग ही नाम रखना चाहेंगे। वे यह भी देखेंगे कि यहाँ एक ऐसी सरकार काम कर

---

१ इसका कारण यह नहीं है कि सोविएट रूस में लोगों को भोजन और दूसरे सुभीते मज़दूरी या तनख्वाह के तौर पर मिलते हैं, वल्कि इसका कारण इस राज्य की वह आर्थिक नीति है जिसके अनुसार वहाँ उपयोगिता के विचार से प्रत्येक व्यक्ति का मूल्य निश्चित किया जाता है। और मनुष्य की योग्यता का कदाचित् मज़दूरी और वेतन की अपेक्षा इस प्रणाली से कुछ अच्छा ही पता चलता है।

रही है जो बिना दूसरी क्रान्ति के किसी तरह बदली ही नहीं जा सकती। लेकिन फिर भी उस सरकार में, उस सरकार की नीति मे और वहाँ के शासकों मे नित्य ही परिवर्तन होते हुए दिखाई देंगे। वहाँ एक दृढ़ सिद्धान्त स्थापित हो चुका है और जितनी बाते आवश्यक समझी जाती है, उन सभी पर सरकार का पूरा-पूरा नियन्त्रण है। लेकिन फिर भी वहाँ की नीति और शासन बहुत कुछ लचीला है। वहाँ की बहुत बड़ी जनता राज्य की नीति और शासन-सम्बन्धी सभी बातो पर बराबर विचार और वाद-विवाद करती रहती है, और उसकी आलोचना करती रहती है। इसी विचार और आलोचना के अनुसार उसमे परिवर्त्तन भी होते रहते हैं। पर विचार और आलोचना करनेवाले सभी लोग सब काम बहुत ही मिलकर और नीति तथा शासन सफल करने के उद्देश्य से ही करते हैं। और जनता के इस तरह मिलकर सभी काम करने का उदाहरण शायद ग्रीस के नगर-राज्यों के बाद आजतक और कहीं नहीं मिलेगा। ये सब बातें विदेशियों को इतनी अधिक मात्रा में दिखाई देंगी कि वह दंग हो जायँगे। इन सब बातों का प्रभाव नगरों के स्वरूप, लोगों के पहनावे और बातचीत, समाचारपत्रों के लेखों और नाटकों तथा फिल्मों के विषयों तक पर दिखाई देता है। इस नये शासन की कुछ बातें तो ऐसी हैं जो खास तौर पर साम्यवादी हैं; और कुछ पुरानी ऐसी बातें भी हैं जिन्हें सोविएट राज्य को केवल इसलिए अभी तक रक्षित रखना पड़ा है कि वह ऐसे संसार के बीच में पड़ा है जिस में सब जगह पूँजीदारी की ही तूती बोल रही है। और इन सब बातों का ठीक-ठीक अन्तर साधारण प्रेक्षक की समझ में सहज में नहीं आ सकता, और न वह जल्दी यही समझ सकता है कि सोविएट रूस के सामाजिक जीवन में कौन सी बातें स्थायी रूप से रह सकेंगी और किन बातों का अन्त इस बीच वाले

परिवर्त्तन-काल मे हो जायगा।

राज्य का आधार—जिन राजनीतिक संस्थाओ से सोविएट राज्य बना है और जिनका उसके संघटन-विधान में उल्लेख है, वे अपेक्षाकृत बहुत कुछ सीधी-सादी हैं। यहाँ हम उन्हीं संस्थाओं का संक्षेप मे कुछ वर्णन देते हैं। परन्तु ये सब संस्थायें ऐसी ही है जो जब चाहे, तब बदली जा सकती हैं; इसलिए इन संस्थाओ का स्वरूप समझने से पहले स्वयं रूस को ही समझना अधिक महत्वपूर्ण है। और रूस का स्वरूप समझने के लिए यह आवश्यक है कि पहले वह सिद्धान्त समझा जाय जिस पर सोविएट रूस आश्रित है; और तब उन साधनों का स्वरूप समझा जाय जिनके द्वारा यह सिद्धान्त समाजिक कार्य के रूप मे परिवर्तित किया जाता है। अंग्रेज अथवा अंग्रेजी सांचे मे ढले हुए पाठको के लिए इसका महत्व समझना बहुत कठिन है; और अमेरिकन लोग इसका महत्व अपेक्षाकृत जल्दी और सहज में समझ सकते हैं। इसका कारण यही है कि अँगरेजी राजनीतिक प्रणाली ऐसी नही है जिसकी सब बाते खूब समझ-बूझकर तैयार की गई हो। वह तो संयोग से ही धीरे-धीरे बनती चली आई हैं और उसकी एक परम्परा-सी स्थापित हो गई है। वह कभी किसी निश्चित सिद्धान्त के आधार पर नही बनाई गई है। अब यह बात दूसरी है कि जॉन लॉक सरीखे कुछ विचारशील समय-समय पर कोई ऐसा सिद्धान्त स्थिर करने का प्रयत्न कर लें जो वास्तविक तथ्यों के अनुरूप हो। अब यों तो ऐसा मालूम होता है कि फैसिस्ट इटली भी अपनी तरफ से एक ऐसा राजनीतिक सिद्धान्त गढ़ने का प्रयत्न कर रहा है, जिससे लोग यह समझने लगे कि वहाँ का संघटन भी एक राजनीतिक सिद्धान्त पर ही आश्रित है। और नहीं तो वास्तव में उसका स्वरूप भी किसी निश्चित सिद्धान्त के आधार पर स्थिर नहीं हुआ है। रूस का

राज्य वास्तव मे कार्ल मार्क्स के उस समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार गढ़ा गया है जिसका विवेचन सबसे पहले सन् १८४८ में उसने अपने साम्यवादी एलान में किया था और जिसे निकोलाई लेनिन ने कार्य-रूप मे परिणत किया है। रूस के क्रान्तिकारी नेताओं ने ठीक-ठीक उसी पथ पर चलने का प्रयत्न किया है जो आज से प्रायः अरसी-पचासी बरस पहले बतलाया गया था। इस बात का ठीक-ठीक पता उस समय चलता है, जब हम मार्क्स के बतलाये हुए क्रान्ति-कारी कार्य-क्रम की तुलना उन कार्यों से करते हैं जो क्रान्तिकारी सरकार ने वास्तव में किये थे।

मार्क्स का सिद्धान्त यह बतलाता है कि जब किसी पूँजीदारी-वाले समाज को साम्यवादी समाज का रूप देना हो, तो पहले कमकरो का अधिनायक तन्त्र स्थापित करना चाहिए, और उन्ही सामाजिक संस्थाओ से काम लेना चाहिए, जिनका विकास स्वयं कमकरो के समाज ने किया हो। असल में इसी ढंग से रूस मे क्रान्ति की गई थी। सन् १९२३ में रूस का जो संघटन (विधान) बना था, यद्यपि उसमें इस सिद्धान्त का केवल कुछ ही अंश स्पष्ट रूप से देखने मे आता है, पर फिर भी असल में वह संघटन उसी सिद्धान्त के अनुसार तैयार किया गया था। वह रूसी कमकरो का ही विद्रोह था जिसकी सहायता असन्तुष्ट सैनिको ने की थी, और दोनों के मेल से वह क्रान्ति हुई थी। उसमें जिन संस्थाओ का विकास किया गया था, वे सोविएटे या कमकरो, सिपाहियों और खेतिहरों की कौन्सिले या पंचायतें थीं। और कमकरो के अधिनायक तन्त्र का साधन उस समय भी साम्यवादी दल था और इस समय भी है।

यहाँ दो बातो का ध्यान रखना चाहिए और ये दोनो ही बातें विशेष रूप से रूस की परिस्थिति के साथ सम्बन्ध रखती हैं। पहली बात तो यह है कि सन् १९१७ में रूस का जो कमकरों का

समाज था, वह यद्यपि रूस की विशाल जनता को देखते हुए संख्या मे अपेक्षाकृत बहुत कुछ छोटा था, पर फिर भी वह मार्क्स की दृष्टि से पूरा-पूरा पीड़ित कमकरो का समाज था। एक तो उसका उत्पीड़न बहुत अधिक होता था और दूसरे वह बड़े-बड़े नगरों और बडे-बड़े कारखानो में केन्द्रित था। फ्रान्स के मजदूरो की तरह वह सारे देश मे छोटे-छोटे दलो में फैला हुआ नहीं था।

ग्रेट ब्रिटेन मे मज़दूरों आदि के जो संघ हैं, उनका तो देश के हानि-लाभ से बहुत बड़ा सम्बन्ध है, परन्तु ज़ार-शाही के जमाने मे रूस के मजदूरों और कमकरो का देश के हानि-लाभ के साथ उस तरह का कोई सम्बन्ध नहीं होता था। अमेरिकन मज़दूरों को यह आशा रहती है कि हम किसी समय व्यक्तिगत रूप से अपनी यथेष्ट उन्नति भी कर सकते हैं; परन्तु रूसी मजदूरों को इस तरह की भी कोई आशा नही होती थी। वह शुद्ध रूप मे पद-दलित और पीड़ित मजदूरों का समाज था; बल्कि यो कहना चाहिए कि उनकी अवस्था मजदूरी करनेवाले गुलामों की तरह थी और वे अपने मालिको के हाथ में बिल्कुल जंजीरों से बँधे हुए गुलामो की तरह रहते थे। इसीलिए वे लोग उस तरह की कमकरोवाली क्रान्ति करने के लिए परम उपयुक्त थे, जिस तरह की क्रान्ति मार्क्स के लेखों मे बतलाई गई है।

लेकिन—और यहीं से वह दूसरी बात आरम्भ होती है—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, रूस के कमकर और मज़दूर सख्या में अपेक्षा-कृत बहुत ही कम थे और क्रान्ति करने में उन्हे खेतिहरो से तबतक सहायता नहीं मिल सकती थी, जबतक वे खेतिहरो को बदले मे जमीन न देते। खेतिहर तभी उनकी सहायता कर सकते थे, जब बदले में उन्हें जमीन पर अधिकार मिलता। लेकिन वहाँ खेतिहरो का बहुत बड़ा वर्ग था; और यदि उन सब खेतिहरो को जमीनों का मालिक बना दिया जाता तो

सारी क्रान्ति ही व्यर्थ हो जाती। इसीलिए इधर बीस बरसो से वहाँ के क्रान्तिकारी नेता प्रचार-कार्य के द्वारा भी और बल-प्रयोग के द्वारा भी देश के समस्त खेतिहरों को कमकरो और मजदूरो की ही श्रेणी मे लाने के लिए घोर परिश्रम कर रहे है।

परन्तु यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे लोग खेतिहरो को उस हैसियत मे कमकर और मजदूर नही बना रहे हैं, जिस हैसियत मे पूँजीदार देशो मे कमकर और मजदूर होते है, क्योकि रूस मे अब पूंजीदारीवाली प्रथा रह ही नही गई है; बल्कि वे उन्हे उसी हैसियत मे लाना चाहते हैं, जिस हैसियत मे इस समय सोविएट रूस में कमकर और मजदूर हैं। मतलब यह कि वे नेता अपने देश के मजदूरो और खेतिहरों मे सामंजस्य और एक रूपता स्थापित करना चाहते हैं। यही कारण है कि रूस के संघटन-विधान मे देहाती सोविएटो या पंचायतो को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है, और यही कारण है कि वहाँ उन खेतिहरो का निर्दयता-पूर्वक अन्त किया जा रहा है जो वहाँ का पचायती सिद्धान्त और पंचायती शासन मानने के लिए तैयार नही होते। वहाँ बहुत से जिले ऐसे थे जो यह नया शासन-विधान मानने के लिए तैयार नही थे; इसलिए उन नेताओ को उन जिलों की ही सफाई करनी पड़ी थी। लेकिन रूसी क्रान्तिकारी नेता सिर्फ बलपूर्वक अपने विरोधियो की सफाई करना ही नहीं जानते, बल्कि वे उनमे अपने सिद्धान्तो का प्रचार करना भी खूब अच्छी तरह जानते हैं; और जहाँ तक हो सकता है, उन्हे पहले समझा-बुझाकर, पंचायतीशासन के लाभ बतलाकर और उनके सामने पंचायती शासन और व्यवस्था के शुभ उदाहरण रखकर उन्हें अपने पक्ष मे मिलाना भी खूब जानते है।

इसमे सन्देह नही कि इस नीति के अवलम्बन के कारण

देश में बहुत सी नई आर्थिक कठिनाइयाँ भी उत्पन्न हो गई हैं, और बहुत कुछ राजनीतिक दमन भी हुआ है। लेकिन फिर भी क्रान्ति के लिए इस नीति का अवलम्बन नितान्त आवश्यक था। परन्तु अभी यह नहीं कहा जा सकता कि यह नीति पूरी तरह से सफल हो ही गई है। इस समय तो केवल यही कहा जा सकता है कि रूसी क्रान्तिकारी नेता बहुत सी बड़ी-बड़ी कठिनाइयों और संकटो से पार पा चुके हैं और अभी तक उन्होंने अपनी कार्रवाइयों से अपने राजनीतिक राज्य को किसी बड़े संकट में नहीं डाला है। उलटे अनेक दृष्टियो से उन्होंने अपने देश की अवस्था बहुत कुछ सुधारी ही है, और उसकी सभी प्रकार की शक्तियाँ बहुत कुछ बढ़ा ली हैं।

सा० सो० प्र० सं० का संघटन[1]—सोविएट राज्य का संघटन अपेक्षाकृत बहुत कुछ सरल और सीधा-सादा है। साम्यवादी सोविएट प्रजातन्त्री संघ वास्तव में सात सोविएट प्रजातन्त्रों का संघ है। इनमें से सबसे बड़ा प्रजातन्त्र रूसी साम्यवादी फेडरल सोविएट का है जो पश्चिम में लेनिनग्राड से

---

१. अंग्रेज़ी में रूस के प्रजातन्त्री राज्य का पूरा नाम यूनियन आफ सोशलिस्ट सोविएट रिपब्लिक्स (Union of Socialist Soviet Republic) है, जिसका संक्षिप्त रूप (U. S S R) प्रायः काम में आता है। इसी का हिन्दी रूप साम्यवादी सोविएट प्रजातन्त्री संघ है जिसका संक्षिप्त रूप सा० सो० प्र० सं० है।—

२. उक्रेन की इसी अलग होनेवाली प्रवृत्ति से जरमनी को यह आशा है कि वह कुछ दिनों में उक्रेन पर भी अधिकार कर लेगा। परन्तु इधर बहुत दिनों से प्रजातन्त्री शासन के अधीन रह चुकने के बाद वह जरमनी के अधिनायकी तन्त्र में सम्मिलित होने के लिए तैयार होगा, इसमें सन्देह ही है।

पूर्व मे व्लाडिवास्टक तक और उत्तर मे वोल्गा से लेकर दक्षिण में कैस्पियन सागर तक विस्तृत है। बाकी छः प्रजातन्त्रो मे से सबसे अधिक महत्त्व का उक्रेनियन साम्यवादी सोविएट प्रजातन्त्र है जिसकी राजधानी कियेफ नामक नगर है और जिसकी सभ्यता मास्को से भी कहीं अधिक पुरानी है। सोविएट प्रजातन्त्री संघ में उक्रेन सन् १६२० तक सम्मिलित नहीं हुआ था। सन् १६२० में भी उक्रेन केवल इसलिए इस संघ में सम्मिलित हुआ था कि उसे पोलैण्डवालों तथा कुछ ऐसे गोरे सेनापतियो का डर था जो उसे अपने अधीन करना चाहते थे।

सोविएट प्रजातन्त्री संघ मे एक उक्रेन का प्रजातन्त्र ही ऐसा है जो अबतक संघ से अलग होना चाहता है[२] और इसके लिए सोविएट प्रजातन्त्री संघ को प्रायः चिन्तित रहना पड़ता है। सा० सो० प्र० सं० के सदस्य प्रजातन्त्रो मे कुछ ऐसे भी हैं जिनके अन्तर्गत और भी छोटे-छोटे स्वराज्य-भोगी प्रजातन्त्र तथा स्वराज्य-भोगी प्रदेश हैं, जिनमे से तातार प्रजातन्त्र, वोल्गा का जरमन प्रजातन्त्र, और जार्जिया, अरमेनिया तथा आजरबायजान के प्रजातन्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस संघ के सभी सदस्य प्रजातन्त्रो का परस्पर बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है, क्योंकि सदस्य प्रजातन्त्रो की ओर से संघ सरकार को बहुत अधिक अधिकार दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, संघ सरकार को ही यह अधिकार है कि वह सब सदस्य प्रजातन्त्रों की ओर से विदेशों के साथ व्यापार तथा अन्य प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करे या तोड़े; दूसरे देशों के आक्रमणो से उनकी रक्षा करे; यदि किसी प्रजातन्त्र मे कोई नई विरोधी क्रांति खड़ी हो तो उसे दबावे; सब प्रजातन्त्रो की राष्ट्रीय और आर्थिक नीति स्थिर करे; सब तरह के कर आदि लगावे और मजदूरो का संघटन तथा उनके सम्बन्ध में कानून आदि बनावे। इस प्रकार

आर्थिक और सामाजिक जीवन की प्रायः सभी मुख्य-मुख्य बाते संघ सरकार के हाथ मे ही हैं। अलग-अलग प्रजातन्त्रो के अधिकार मे तो प्रायः शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि की ही व्यवस्था है; और इन सब बातो मे अधिकांश प्रजातन्त्रो ने अपने यहाँ की स्थानिक पंचायतों को बहुत अधिक स्वतन्त्रता दे रक्खी है।

परन्तु इस विषय में एक बहुत महत्व की और ध्यान रखने के योग्य बात यह है कि संघ सरकार ने सभी प्रजातन्त्रों को पूरी-पूरी सांस्कृतिक स्वतन्त्रता दे रक्खी है। सभी प्रजातन्त्र अपने यहाँ की भाषा मे जो चाहे, वह लिख सकते हैं, जो चाहे वह कह सकते हैं और जो चाहे,' वह छाप सकते हैं। जारशाही मे अलग-अलग राष्ट्रो को इस प्रकार की कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। उन दिनों तो इन सभी बातो में पूरा-पूरा दमन होता था। लेकिन अब सोविएट संघ सरकार ने वह सारी पुरानी नीति बिल्कुल उलट दी है और इस विषय में इतनी अधिक उदारता से काम लिया है, जितनी उदारता से अबतक बहुत ही कम यूरोपियन राष्ट्रो ने काम लिया है। इस प्रकार की उदारता से आस-पास के अनेक राज्यों के मन मे भी इस संघ में सम्मिलित होने का लोभ उत्पन्न हो सकता है। उदाहरण के लिए, सोविएट संघ के आस-पास अफगानिस्तान और चीनी तुर्किस्तान आदि कुछ ऐसे राज्य हैं जो आगे चलकर इस उदाहरण से प्रेरित होकर अपने यहाँ साम्यवादी प्रणाली प्रचलित कर सकते हैं, और सोविएट संघ के सदस्य हो सकते हैं। यद्यपि सोविएट संघ के सब नेता रूसी ही है और उनकी भाषा भी मुख्यतः रूसी ही है, परन्तु यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो सिद्धान्ततः सोविएट संघ की कोई राष्ट्रीय इकाई नहीं है, बल्कि वह केवल ऐसे राज्यो का संघ है जिनमें एक ही तरह की साम्यवादी संस्थायें हैं, और जो एक ही सामाजिक सिद्धान्त—मार्क्सवाला साम्यवादी सिद्धान्त—

मानते है।

आज-कल के संसार में और जितनी राजनीतिक सत्तायें है, उनसे इस सत्ता मे अनेक भेद हैं और उन्हीं भेदो मे से एक भेद यह भी है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि रोम या इस्लाम के साम्राज्यो की तरह यह अपने शस्त्रो के बल पर अपनी सीमाओ का विस्तार नहीं करना चाहता।[1] कम-से-कम विधान मे तो यहाँ तक लिखा हुआ है कि यदि कोई सदस्य-प्रजातन्त्र किसी समय इस संघ से अलग होना चाहे तो उसे अलग होने का भी पूरा-पूरा अधिकार है। यो चाहे अवसर पड़ने पर किसी सदस्य प्रजातन्त्र को भले ही सहज में अलग न होने दिया जाय, परन्तु फिर भी सिद्धान्ततः उसे अलग होने का अधिकार तो संघटन-विधान के अनुसार है ही।

सोविएट संघ मे मत या वोट देने का अधिकार सब लोगो को समान रूप से प्राप्त है। उसमे पुरुष भी मत दे सकते हैं और स्त्रियाँ भी। हाँ, जो लोग अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए किराये या मजदूरी पर लोगो से काम लेते हैं, उन्हे अवश्य ही मत देने का अधिकार नहीं है। परन्तु खेती-बारी करनेवाले कृषक इससे बरी है। इसके सिवा जो लोग बिना परिश्रम किये और बिना कमाये अपनी जायदाद आदि से होनेवाली आय से अपना निर्वाह करते हैं, साधु-संन्यासी या धर्म-पुरोहित हैं, जो जड़-बुद्धि या मूढ़ हैं अथवा जो किसी समय जारशाही के गुमाश्ते

---

१ पर इस बार जरमनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण करके उसका विनाश आरम्भ किया, तब सोविएट रूस ने भी आगे बढ़कर पोलैण्ड के बहुत बडे भाग में सोविएट तंत्र स्थापित कर दिया था; और कई छोटे-छोटे बाल्टिक राज्यों को अपने प्रभाव-क्षेत्र मे ले लिया था। फिर फिनलैण्ड पर भी आक्रमण करके उसने उसका कुछ प्रदेश छीन लिया था। रा० चं० वर्मा

और कर्मचारी थे, उन्हे मत देने का अधिकार नहीं है। फिर सोविएट-प्रणाली का स्वरूप भी कुछ ऐसा ही है कि उसमें वोट या मत का कुछ बहुत अधिक महत्व नहीं है। नागरिकों को जो बहुत से अधिकार प्राप्त हैं, उन्ही मे वोट देने का भी एक अधिकार है।

नागरिको को और भी अनेक प्रकार के अधिकार होते हैं। वे कमकरो और मजदूरों के संघों के सदस्य हो सकते हैं, उन्हे वह कार्ड या प्रमाणपत्र मिलता है जिसके अनुसार उन्हे सरकार की ओर से खाने-पीने आदि की तथा अन्य आवश्यक वस्तुये मुफ्त मिलती हैं, और बहुत सी ऐसी सामाजिक सेवायें भी मिल सकती हैं जो राज्य की ओर से परिचालित होती हैं, आदि-आदि ।

अपने हाथ से नागरिकता के अधिकार गँवा देना भी वहाँ एक तरह का जुर्म या अपराध ही समझा जाता है; और यदि ऐसा अपराध भीषण हो तो उसके लिए सजा भी मिल सकती है।

ध्यान रखने के योग्य एक और बात यह है कि सभी सामाजिक और राजनीतिक विषयों में स्त्रियों को भी पुरुषो के समान ही अधिकार होते हैं। वहाँ बहुत सी ऐसी व्यवस्थाये भी हैं जिनसे स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि स्त्रियों को सचमुच पुरुपों के समान ही अधिकार हैं। अनेक देशो में ऐसे कानून तो बना दिये जाते हैं जिनसे स्त्रियों के समान अधिकार मान लिये जाते हैं, पर फिर भी जिनसे स्त्रियों को वास्तव में समानता के अधिकार प्राप्त नहीं होते। पर सोविएट सघ मे यह बात नहीं है। वहाँ स्त्रियो को समानता के जो अधिकार दिये गये है, वे वास्तविक हैं। विवाह के सम्बन्ध में वहाँ जो कानून हैं, वे स्त्रियों और पुरुपों में कोई भेद नहीं करते। इसके सिवा वेतन आदि में भी दोनों मे कोई भेद नहीं किया जाता। रोग, गर्भ और प्रसव

आदि के समय स्त्रियो की देख-रेख आदि के लिए भी वहाँ बहुत ही विस्तृत व्यवस्था है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार की बहुत सी ऐसी बाते हैं जिनसे स्त्रियो को सचमुच पुरुषो के समान ही अधिकार होते है। यह समानता कोई दिखावटी नही है, बल्कि वास्तविक है।

रूस के नये सघटन-विधान मे जो राजनीतिक प्रणाली स्थिर की गई है, वह एक प्रकार से कोणाकार है। नीचे की ओर तो उसका विस्तार बहुत अधिक है। ज्यो-ज्यो वह ऊपर की ओर बढ़ती है, त्यो-त्यो उसका विस्तार कम होता जाता है और अन्त में वह एक कोण या शिखर के रूप मे जाकर समाप्त होती है। सबसे नीचेवाले तल मे गाँवो और देहातो की छोटी-छोटी सोविएटे या पंचायते है और उनके ऊपर उन्ही की चुनी हुई दूसरी बड़ी पंचायते है। छोटे-छोटे कस्बो मे जो कल-कारखाने होते हैं, उनके कमकरो की भी इसी तरह की चुनी हुई पंचायते होती हैं; और इन सब पंचायतो के चुने हुए प्रतिनिधियो की वे सोविएटे या पंचायते होती हैं जो जिले भर के सब कामो की व्यवस्था करती है। जिले की पंचायते अपने प्रान्त की पंचायते चुनती हैं और प्रान्तो की पंचायते उस केन्द्रीय संस्था के सदस्यो का चुनाव करती है जो पंचायतो की केन्द्रीय कांग्रेस (Central Congress of Soviets) कहलाती है। ऐसा नियम है कि इस कांग्रेस का अधिवेशन हर साल हुआ करे। संघटन-विधान के अनुसार सारे संघ के लिए सबसे बड़ा अधिकार इसी कांग्रेस के हाथ मे होता है। इस कांग्रेस में जो निश्चय होते है, वे सारे संघ में समान रूप से माने जाते हैं। सोविएट कांग्रेसो मे देहातो के प्रतिनिधियो की अपेक्षा नगरो और कस्बो के ही प्रतिनिधि अधिक होते है। इस सम्बन्ध में संघटन-विधान की नवी धारा में कहा गया है—

"साम्यवादी सोविएट प्रजातन्त्री संघ मे सोविएटो की जो

क,ग्रेस होगी, उसका निर्वाचन नगरों और वहाँ की सोविएटो के प्रतिनिधियो से इस आधार पर होगा कि प्रत्येक २,५००० निर्वाचको का एक डिप्टी प्रतिनिधि लिया जायगा, और सोविएटो की प्रान्तीय कांग्रेसो मे आबादी के हर १,२५,००० आदमियो का एक डिप्टी प्रतिनिधि लिया जायगा।"

सोविएटो की कांग्रेस ही संघ की कौन्सिल का निर्वाचन करती है। इस कौन्सिल और राष्ट्रों अथवा स्वतन्त्र प्रजातन्त्रों के प्रतिनिधियों की कौन्सिल के योग से संघ की केन्द्रीय कार्य-कारिणी समिति बन जाती है। लेकिन इन दोनों कौन्सिलों के सदस्यो की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनकी बैठक जल्दी-जल्दी नही हो सकती। इसलिए बीच में काम चलाने के लिए शासन का सब काम 'प्रिसीडियम' नाम की उस प्रतिनिधि सभा के हाथ में दे दिया जाता है, जिस में उक्त दोनों कौन्सिलो के चुने हुए इक्कीस सदस्य होते हैं। यही समिति केन्द्रीय कार्यकारिणी (Central Executive) कहलाती है। इस समिति की अधीनता में लोक प्रतिनिधियो की कौन्सिल होती है जिसमे राज्य के मुख्य-मुख्य विभागों के प्रधान अधिकारी रहते हैं।

यह सभा बहुत कुछ ब्रिटिश मन्त्रि-मंडल के ही समान होती है। साम्यवादी राज्य में सरकार के काम साधारणत: बहुत अधिक बढ़ जाते हैं, इसलिए उन सब कामों के अलग-अलग विभाग सँभालने के लिए वहाँ और भी बहुत सी कौन्सिलें, कमीशर और कमेटियाँ होती हैं, जिनके स्वरूप और कार्य आदि बीच-बीच में बदलते रहते हैं। यद्यपि ये सब समितियाँ और इनके कार्य बहुत मनोरंजक होते हैं, पर फिर भी हमारे पास यहाँ इतना स्थान नहीं है कि इन सब का वर्णन किया जा सके। वहाँ संघ की सुप्रीम कोर्ट होती है; कमकरों और खेतिहरों की अवस्था का निरीक्षण करने के लिए कमसरियट होता है जो आर० के० आई०

कहलाता है और राज्य का राजनीतिक विभाग होता है जो जी० पी० यू० कहलाता है। इन सब का निर्वाचन भी प्रत्यक्ष रूप से संघटन-विधान के अनुसार होता है। इन सबके सम्बन्ध की कुछ बातें आगे चलकर यथा-स्थान बतलाई जायँगी। सोविएट संघ का कोई सभापति या राष्ट्रपति नहीं होता। हाँ, केन्द्रीय कार्य-कारिणी समिति के कई सभापति होते हैं, और कमिशरों या विभाग मन्त्रियों की कौन्सिल का भी एक सभापति होता है। लेनिन बहुत दिनो तक इसी पद पर रहकर काम करता था। लेकिन उसकी मृत्यु के बाद से इस पद का महत्व बहुत ही कम हो गया है।

सोविएट संघटन का यह बहुत ही संक्षिप्त वर्णन है। परन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि सोविएट संघ का संघटन-विधान कुछ बहुत पेचीला या कठिन नहीं है, और उसकी सब बातें बहुत सहज में समझ में आ जाती हैं। परन्तु इस संघटन-विधान का किसी तरह का सारांश जान लेने पर भी रूस के वास्तविक राजनीतिक जीवन की कोई कल्पना नहीं की जा सकती; और इसका सीधा-सादा कारण यही है कि उस जीवन की मुख्य-मुख्य बातो का उस संघटन-विधान मे कोई उल्लेख ही नहीं है।

मार्क्स ने कमकरो के जो अनेक प्रकार के संघटन बतलाये हैं, उनमें से केवल एक ही, अर्थात् सोविएटो या पंचायतोवाले प्रकार को इस संघटन-विधान में स्थान दिया गया है। और ऐसा होना इसलिए बिल्कुल स्वाभाविक था कि जिन दिनो रूस में राज्य-क्रान्ति हुई थी, उन दिनों भी और उनसे पहले भी रूस में आप-से-आप बहुत सी सोविएटें बन गई थीं; और फिर आगे चलकर इन्हीं सोविएटों ने क्रान्तिकारी सरकार के हाथ में सब राजनीतिक तथा शासन-सम्बन्धी अधिकार सौंपे थे। जैसाकि संघटन-विधान मे कहा गया है, रूस की सरकार सोविएटो की

ही बनाई हुई है, और उन्हीं के आधार पर बनी है। लेकिन सारे देश मे कमकरो ने केवल सोविएटें ही नही बनाई थीं, बल्कि इनके अतिरिक्त शासन-सम्बन्धी कार्यों के लिए (कायदे-कानून बनाने के काम के लिए नहीं) और भी बहुत तरह की संस्थाये बनी थी, जिनमे सोविएटों की अपेक्षा कहीं ज्यादा जान दिखलाई देती थी। यहॉ इन संस्थाओं को भी हमे ध्यान में रखना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे हमे एक बात बराबर याद रखनी चाहिए। वह यह कि साधारणतः किसी पूंजीदारीवाले देश मे शासन का जितना क्षेत्र होता है, उसकी अपेक्षा साम्यवादी देश या समाज में शासन का क्षेत्र कहीं अधिक बड़ा और विस्तृत होता है। पूंजीदारीवाले देशो में सारा शिल्प, उद्योग-धन्धे और व्यापार आदि बहुत से काम निजी रूप से कुछ व्यक्तियो के हाथ मे होते हैं। यातायात के बहुत से साधन भी उन्हीं के हाथ में होते हैं और उनका केवल कुछ अंश सरकार की अधीनता मे काम करता है। परन्तु साम्यवादी देश या समाज में ये सभी बातें सरकार या राज्य के अधीन होती हैं और इसीलिए उनके शासन का क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत होता है। तात्पर्य यह कि पूँजीदारीवाले देशों में जितनी बातें सरकार के हाथ मे होती हैं और जितने क्षेत्रों में उसे शासन की व्यवस्था करनी पड़ती है, उन सबकी तो व्यवस्था साम्यवादी सरकार को करनी ही पड़ती है, पर उसके साथ-ही-साथ उसे और भी बहुत सी बातों की व्यवस्था करनी पड़ती है और इसीलिए उसका शासन-क्षेत्र स्वभावतः बहुत बड़ा होता है।

सामूहिक व्यवस्था—एक हद तक सोविएट शासन ऊपर से ही होता है। अन्यान्य बहुत से देशों की तरह वहाँ भी बहुत सी बातो मे विभागो के प्रधान अधिकारियो की ही आज्ञाये चलती हैं। परन्तु जैसा कि समय-समय पर और अनेक देशो ने भी

किया है, ये विभाग और उनके प्रधान अधिकारी कमकरों की और भी कई ऐसी संस्थाओं से सहायता लेते और उनका उपयोग करते है जो वहाँ क्रान्ति के पहले से ही चली आ रही हैं। वहाँ पहले से मजदूरो और कमकरों के जो बहुत से संघ या ट्रेड-यूनियन और सहकारी सोसाइटियाँ चली आ रही हैं, उनसे भी सरकार शासन आदि के बहुत से काम लेती है। विशेषतः जब से वहाँ के सरकारी श्रम-विभाग का सारा काम ट्रेड-यूनियनो या मजदूरो और कमकरो के संघो को सौंप दिया गया है, तब से वे संघ सरकारी यन्त्र का एक महत्वपूर्ण अंग बन गये हैं। परन्तु अन्यान्य सभी देशो से बढ़ कर एक विशेष बात वहाँ यह है कि वहाँ के अधिकांश कार्यों के सम्बन्ध मे नीचे-वाले स्तर ही निर्णय करते है और उन्हीं के हाथों मे उन कामो की व्यवस्था भी रहती है। ऊपर से उनके लिए केवल वही आज्ञायें आती हैं जो उनके लिए मार्गदर्शक का काम देती हैं। वहाँ अलग-अलग हरएक काम में जितने आदमी लगे रहते हैं, वे सब अपनी-अपनी सभायें और समितियाँ बना लेते हैं, और अपने अधिकांश सामाजिक कार्यों की सारी व्यवस्था आप ही कर लेते हैं।

उदाहरण के लिए कोई कारखाना ले लीजिए। उस कारखाने में जितने आदमी काम करते हैं, वे सब मिल कर एक कमेटी बना देते हैं। उस कारखाने मे काम करनेवालो के सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी बाते होती हैं, उन सब की व्यवस्था वही कमेटी करती है। कारखाने के सभी कमकरों के लिए एक भोजनालय और एक क्लब होता है, और सब लोगो के रहने के लिए मकान होते हैं, और इन सब की सारी व्यवस्था उसी कमेटी के हाथ मे होती है।

कारखाने में जो स्त्रियाँ काम करती हैं, उनके बच्चो के लिए

तरह करने चाहिएँ। आरम्भिक काल के साम्यवादी कहा करते
थे कि जहाँ किसी प्रकार का उत्पादन होता हो या कोई चीज़
तैयार होती हो, वहाँ वह चीज़ तैयार करनेवाले सब लोगों को
मिलकर उस उत्पादन पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इसलिए
इस सम्बन्ध में हम इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं
कि इस कमेटी का उत्पादन पर नाम को भी नियन्त्रण नहीं होता।
सन् १९१८-१९ में कुछ दिनो तक इस प्रकार का प्रयोग किया
गया था और कारखानो में बननेवाली चीज़ो या उनके उत्पादन
पर इस तरह की कमेटियो का ही नियन्त्रण रक्खा गया था। परन्तु
उसका परिणाम बहुत ही बुरा हुआ था। इसलिए वह व्यवस्था
उसी समय उठा दी गई थी। अब तो किसी कारखाने में बनने-
वाली चीज़ो या उनके उत्पादन पर उन्ही लोगो का नियन्त्रण
रहता है, जिनके हाथ में उस कारखाने की व्यवस्था होती है।
उनकी देख-रेख वे सरकारी कर्मचारी करते हैं जो इसी काम के
लिए नियुक्त होते हैं।

परन्तु यह बात उस 'कोलखोजी' खेती के सम्बन्ध में
नही है जिसकी कुछ बातें हम आगे चलकर बतलावेंगे।
इस कमेटी को यह भी निश्चय करने का कोई अधिकार नहीं
रहता कि कमकरों को क्या पारिश्रमिक दिया जाय या उन्हें किस
प्रकार तथा किस अवस्था मे रक्खा जाय। ये सब बातें भी ऊपर
के अधिकारी ही निश्चित करते हैं। एक बहुत बड़ी हद तक ये
कमेटियाँ आलोचनायें भी करती हैं और शिकायते भी करती हैं।
यदि कोई रूसी कमकर अपने कारखाने की किसी बात से
असन्तुष्ट होता है तो उसके पास अपना यह असन्तोष प्रकट करने
के बहुत अधिक साधन होते हैं। लेकिन फिर भी यह नहीं समझना
चाहिए कि ये संस्थायें केवल शिकायत और आलोचना करने के
लिए ही होती हैं। कारखाने की चीजें तैयार करने मं भी और

इस सम्बन्ध में आगे के लिए योजनायें बनाने मे भी इन संस्थाओ से निश्चित रूप से बहुत बड़ी सहायता मिलती है। रूस मे जो पहली पंच-वार्षिक योजना बनी थी, उससे पहले सारे रूस के कमकरों की इन संस्थाओं में बहुत अधिक वाद-विवाद हुआ था और उस योजना को सफल करने में भी, और समय-समय पर आवश्यकतानुसार उस में सुधार करने में भी, इन संस्थाओ ने कुछ कम सहायता नही की थी।

ये संस्थाये मजदूरो के लिए सभी तरह के सामाजिक और सांस्कृतिक काम तो करती ही हैं, पर साथ ही ये अदालत का भी कुछ काम करती हैं। यदि कोई कार्यकर्त्ता कोई अपराध करता है या कारखाने के नियमो की अवज्ञा करता है तो उसका विचार भी पहले इसी संस्था मे होता है और यहीं से उसे दंड भी मिलता है।

इस प्रकार कलेक्टिव या कारखाने की कमेटी लोकल बोर्ड का भी काम करती है, स्थानीय अदालत का भी काम करती है और क्लब का भी काम करती है। इसके सिवा वह कारखाने के सुधार के उपाय भी बतलाती है और अच्छी-अच्छी योजनायें भी सुझाती है। तात्पर्य यह कि एक छोटे क्षेत्र में वह एक छोटी सी सरकार के ही अधिकांश कार्य करती है। इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि इस तरह की संस्थाये संसार के और किसी देश में नहीं होतीं।

इस कलेक्टिव का रूप चाहे जो हो और इसका संघटन चाहे जिस प्रकार होता हो, परन्तु फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल के रूस में यह सबसे अधिक महत्त्व की, सबसे अधिक आवश्यक, और सब से अधिक मनोरंजक संस्था है। यही एक ऐसी संस्था है जो सब में नई जान डालती है और जो प्रजातन्त्र के प्रत्येक नागरिक के सभी अच्छे-अच्छे गुणों को एक सूत्र मे

बाँधकर उनसे ठीक तरह से काम लेती है, और उनका पूरा-पूरा उपयोग करती है। जो साम्यवादी समाज चारो ओर से पूँजीदार समाजों और देशो से घिरा हुआ हो, उसे अपने यहाँ सब लोगों से बहुत ही कठोरतापूर्वक मर्यादा और नियमों का पालन कराना पड़ता है। रूस मे यही एक ऐसी संस्था है जो सब लोगो से उस मर्यादा और नियमों का ठीक तरह से पालन कराती है और यह कठोरता किसी को खलने नही देती। जिन देशो मे रूस की तरह बहुत दिनो से गरीबो पर बड़े-बड़े अत्याचार न होते आये हो, उनमे इन संस्थाओं की स्थापना और इनके नियमों का ठीक-ठीक पालन किसी प्रकार सम्भव ही नही है। लेकिन इस में कोई सन्देह नही कि प्रतिनिधिसत्तात्मक सामाजिक जीवन की विकट स्थायी समस्या की मीमांसा मे इन संस्थाओं से बहुत ही बहुमूल्य सहायता मिलती है।

साम्यवादी दल—परन्तु सोविएट संघटन-विधान में इन कलेक्टिवों या सामूहिक संस्थाओ का कहीं कोई जिक्र नही है। और न उसमे उस साम्यवादी दल का ही कही कोई जिक्र है, जिसका इस प्रणाली मे और विशेषतः इस क्रान्ति के काल में इतना अधिक महत्व है।

प्रायः व्यंग्य और उपहासपूर्वक कहा जाता है कि और सब प्रकार के दलों से और साम्यवादी दल मे सब से बड़ा अन्तर यही है कि इस दल मे सम्मिलित होना तो बहुत कठिन होता है और इससे अलग होना बहुत ही सहज होता है। परन्तु वास्तव मे अन्यान्य राजनीतिक दलो से इस दल में इसके सिवा और भी कई बड़े अन्तर हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह साम्यवादी दल उसी पुराने रूसी साम्यवादी प्रतिनिधि-सत्तात्मक दल का बहुमत-वाला या बोल्शेविक अंग है, जो सन् १६०३ मे सिद्धान्त-सम्बन्धी कुछ मत-भेदो के कारण विभक्त हो

गया था। परन्तु सन् १६१७ की ग्रीष्म ऋतु में रूस की पहली राज्य-क्रान्ति के बाद और दूसरी राज्य-क्रान्ति से पहले इस दल ने उन सब शक्तियों का नेतृत्व ग्रहण करना निश्चित किया था जो अस्थायी सरकार का विरोध करती थीं। इस दल ने उस समय सब जगह यही पुकार मचाई थी कि सारी शक्ति सोविएटों या पंचायतों के हाथ में रहनी चाहिए, अर्थात् सारा अधिकार मजदूरों की संस्थाओं और संघटनों को मिलना चाहिए; और तभी से यह दल वास्तव में मजदूरों और कमकरों के अधिनायकत्व का साधन बना है।

यहाँ हमें इस बात का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि जिस समय देश में राज्य-क्रान्ति हो रही थी, उस समय यह दल अपने आपको उस अधिनायकत्व का साधन समझता था या नहीं, परन्तु यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि थोड़े ही दिनों में सब लोगों की समझ में बहुत अच्छी तरह यह आ गया था कि जबतक कोई मजबूत, व्यवस्थित और समझदार दल नेतृत्व न ग्रहण करेगा, तबतक क्रान्ति ठीक तरह से न हो सकेगी, और इस के बदले में सारे देश में अव्यवस्था फैल जायगी तथा भीषण गृह-युद्ध छिड़ जायगा। लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने ही यह दल बनाया था।

रूस के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में जो संस्थायें कानून बनाने और शासन करने का काम करती हैं, वे वही हैं जिनका ऊपर वर्णन किया गया है। परन्तु कानून बनाने और शासन करने के सम्बन्ध में जो नीति है, वह साम्यवादी दल ही स्थिर करता है। इसका मतलब यही है कि नीति के सम्बन्ध में वास्तव में जो महत्वपूर्ण वाद-विवाद होते हैं, वे

सोविएटो की कांग्रेस में नहीं होते, बल्कि समय-समय पर होने-वाली साम्यवादी दल की कांग्रेसों मे होते हैं।

संघटन-विधान मे चाहे जो कुछ कहा गया हो, लेकिन असल में सारा अधिकार साम्यवादी दल की कांग्रेस के ही हाथ मे है। और एक कांग्रेस हो जाने के बाद जबतक दूसरी कांग्रेस नहीं होती, तबतक सारा काम इस दल की कार्यकारिणी समिति करती है, जिसका मन्त्री स्टालिन है।

साम्यवादी दल ने जो सारा अधिकार अपने हाथ मे कर रक्खा है, उसका कारण यही है कि जितने महत्व के पद हैं, वे सब इस दल के सदस्यो के ही हाथ मे रहते है, अथवा कम-से-कम ऐसे लोगो के हाथ में रहते हैं जो साम्यवादी सिद्धान्तो को पूरी तरह से मानते हैं। इसके सिवा स्थानीय सोविएटो तथा महत्वपूर्ण कलेक्टिवों मे भी इस दल के इतने काफी आदमी रहते हैं कि वे सोविएटे और कलेक्टिव इस दल के सिद्धान्तो और निश्चयों के विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकते।

हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि सारे रूस में काम करने वाले अधिकारियों के जितने पद हैं, उन सब पर इस दल के सदस्य ही है। वास्तव मे इस दल की सदस्यता के नियम ही कुछ इतने कठोर हैं कि सब लोग सहज में इसके सदस्य नही हो सकते। इस समय भी सारे देश मे इस दल के शायद पच्चीस लाख से अधिक सदस्य न होंगे; और इस दल के नेताओं की निश्चित नीति के कारण यह संख्या भी प्राय. घटती-बढ़ती रहती है। इसके सिवा देश मे और भी ऐसे लाखों करोड़ो आदमी है जो इस दल की नीति पर तो पूरा-पूरा विश्वास रखते हैं, परंतु फिर भी जो किसी-न-किसी कारण से इस दल मे सम्मिलित नहीं होते, अथवा नहीं हो सकते। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि सारे देश मे जितने बड़े-बड़े सरकारी कर्मचारी हैं, वे सब इस दल के सदस्य ही हैं। और

सोविएटों मे भी वही सोविएट या पंचायत अधिक महत्व की समझी जाती है जिसमें इस दल के सदस्य ही अधिक होते हैं।

जिस ढंग से इस दल ने सब जगह अपना प्रभुत्व स्थापित कर रक्खा है, वह ढंग भी बिल्कुल सीधा-सादा कहा जाता है, और वह ढंग बतलाया भी बहुत सहज मे जा सकता है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि इस ढंग से काम लेना भी उतना ही सहज है। इस मे सब से बड़ी आवश्यकता इस बात की होती है कि दल के जितने सदस्य हों, वे बहुत ही व्यवस्थित और मर्यादित रूप से सब काम करें, दल की सभी आज्ञाओं का पूरी तरह से पालन करें, और दल के निश्चयो तथा सिद्धान्तों पर पूरी-पूरी निष्ठा और श्रद्धा रक्खें, और उनमें यथेष्ट कार्य-कुशलता, बुद्धि और योग्यता हो। दल के सदस्यो मे इन सब गुणों की इसलिए और भी अधिक आवश्यकता होती है कि रूस आजकल आर्थिक दृष्टि से दिन-पर-दिन बहुत अधिक विकसित होता जा रहा है। देश ज्यों-ज्यों इस उन्नति की ओर अग्रसर होता जाता है, त्यों-त्यों यह बात और भी अधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध होती जाती है कि केवल पुराने ढंग के आदर्श विचारो से ही कोइ काम नहीं हो सकता।

यदि कोई व्यक्ति पुराने आदर्श सिद्धांत तो पूरी तरह से मानता हो, परंतु उसमें योग्यता, बुद्धिमत्ता और कार्य-कुशलता न हो तो इस प्रणाली में उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। साम्यवादी दल के सिद्धांतो पर आस्था रखना तो आवश्यक है ही, लेकिन किसी ऊँचे पद पर पहुँचने के लिए साम्यवादियों को और भी अनेक प्रकार की परीक्षाओं मे उत्तीर्ण होना पड़ता है। इसके विपरीत यदि उसमें सब गुण तो हों, परंतु साम्यवादी सिद्धांतों पर उसका पूरा-पूरा विश्वास न हो, तो वह व्यक्ति रूस की वर्तमान शासन-प्रणाली के लिए किसी काम का नहीं है।

इसीलिए साम्यवादी दल मे सिर्फ ऐसे ही चुने हुए लोग रह सकते है जो हर तरह से योग्य होने के अतिरिक्त दल के सिद्धांतों पर पूरा-पूरा विश्वास रखते हों और उन सिद्धान्तों के लिए अपना सर्वस्व तक त्यागने के लिए तैयार रहते हो। और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कठोर-से-कठोर उपायो तक का अवलम्बन किया जाता है।

राज्य-क्रांति से पहले लोग केवल बाह्य परिस्थितियो से ही विवश होकर इस दल की मर्यादा और नियमो का पालन करते थे। उस समय उन्हे भय रहता था कि यदि हम मर्यादा भंग करेंगे तो या तो हमे देश-निकाला ही मिलेगा और या हमे अपनी जान से ही हाथ धोना पड़ेगा। जो दल सरकार की तरफ से गैर-कानूनी ठहरा दिया गया हो, उसमे कभी कमजोर और निकम्मे आदमी नहीं शामिल हो सकते। अगर कभी किसी तरह ऐसे कुछ आदमी उसमें पहुँच भी जाते हैं तो या तो वे जल्दी ही काम के आदमी बन जाते हैं और या दल मे से निकाल बाहर कर दिये जाते हैं। लेकिन राज्य-क्रांति के बाद से अब वहाँ बिल्कुल ही नये प्रकार की मर्यादा और नये प्रकार के नियम बने हैं। ये नियम स्वयं भी बहुत कठोर हैं और इनका पालन भी बहुत ही कठोरतापूर्वक किया और कराया जाता है।

पहली बात तो यह है कि साम्यवादी दल के सदस्यो की सूची पर सदा पूरा ध्यान रक्खा जाता है, और समय-समय पर उस मे काट-छाँट होती रहती है। यह काट-छाँट इसी उद्देश्य से की जाती है कि जिसमें शिल्प और उद्योग-धन्धो में काम करनेवाले मजदूरों और कमकरो का अनुपात इस सूची में सदा बढ़ा रहे, जिसमें दल का मजदूरों और कमकरोंवाला स्वरूप नष्ट न होने पावे। और तरह के काम करनेवालो के लिए तो नहीं, लेकिन उद्योग-धन्धो मे काम करनेवाले लोगो के लिए इस दल में

सम्मिलित होना अपेक्षाकृत कुछ सहज होता है।

लेकिन समय पर दल की सूची में जो काट-छाँट होती रहती है, उसमे भिन्न-भिन्न वर्गों के शिल्पियो, कारीगरो और कमकरों के बहुत से नाम एकदम से बढ़ा दिये जाते हैं।

दूसरी बात यह है कि साधारणत. जबतक बहुत सी बातो में किसी की पूरी-पूरी परख नहीं कर ली जाती, तबतक उसे दल मे सम्मिलित नही किया जाता। इस परख के बाद भी पहले वह कुछ दिनो तक इसलिए उम्मीदवारी मे रक्खा जाता है जिसमें उसकी योग्यताओ और गुणो की ओर भी पूरी तरह से जॉच हो जाय। ये सब उपाय इसी आशा से किये जाते हैं कि दल का काम सँभालने के लिए जो नये सदस्य आवे, वे चरित्र, योग्यता और बुद्धिमत्ता आदि सभी बातों के विचार से पूर्ण-रूप से उपयुक्त हो।

तीसरी बात यह है कि जो लोग दल के सदस्य हो जाते हैं, उन्हे अपने दल और देश की व्यक्तिगत रूप से बहुत अधिक सेवा भी करनी पड़ती है, और अपना व्यक्तिगत आचरण भी बहुत उच्च रखना पड़ता है। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे या तो स्वयं अपनी ही इच्छा से और या दल की आज्ञा से स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर बहुत तरह के काम लेंगे। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे अपने व्यक्तिगत सुख और मनोविनोद आदि मे इस दृष्टि से बहुत कुछ कमी करेगे जिस मे उनकी सार्वजनिक सेवाओ मे अधिक विघ्न न पड़ने पावे; और वे साम्यवादी सिद्धान्तो के अनुसार अपना आचरण और अपने कार्य इतने उच्च तल पर रक्खें कि समाज के और लोगों के लिए वे आदर्श हो। यहाँ हमे इस बात का भी स्मरण रखना चाहिए कि रूस में सदाचार पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। वहाँ आचरण अच्छा

रखने का मतलब यही है कि मनुष्य कभी अपने काम मे सुस्ती न करे और सदा समाज को उन्नत, सुखी और सम्पन्न बनानेवाले अधिक-से-अधिक काम किया करे। पहले कुछ दिनों तक यह भी नियम था कि उसे औरो की अपेक्षा कुछ कम वेतन लेना पड़ता था, और यह नियम था कि साम्यवादी दल के सदस्य को किसी अवस्था में इतने से अधिक वेतन न दिया जाय। लेकिन कई कारणो से वह चल नहीं सकता था, इसलिए यह नियम कुछ शिथिल कर दिया गया। पर फिर भी इसका मूल सिद्धान्त अभी तक नष्ट नहीं होने पाया है।

यहाँ तक तो उस बड़े दल की बात हुई जो देश-व्यापी है और जिसकी कांग्रेसों मे सारे देश के प्रश्नों का विचार और निर्णय होता है। इसके सिवा वहाँ साम्यवादियों की एक प्रकार की छोटी सभायें भी होती हैं जिन्हें 'कोमसोमोल' कहते हैं। इन संस्थाओं के प्रायः पचास लाख सदस्य हैं जिनकी अवस्था १६ से २४ वर्ष तक होती है। और जो नवयुवक स्कूलों में पढ़ने वाले बालको के लिए मार्ग-दर्शक का काम देते हैं, उन्हे 'पायनियर' कहते हैं। इन दोनो संस्थाओ की सदस्यता के सम्बंध में भी बहुत कुछ उन्हीं नियमो और सिद्धान्तो का पालन किया जाता है जिनका साम्यवादी दल की सदस्यता के लिए पालन होता है। जो नवयुवक 'कोमसोमोल' के सदस्य होना चाहते हैं या 'पायोनियर' बनना चाहते हैं, उन्हे पहले कुछ दिनो तक उम्मीदवारी करनी पड़ती है और उस समय कई तरह से उनकी जाँच भी होती है।

अन्य देशों में जिस प्रकार स्काउटो की संस्था होती है, बहुत कुछ उसी प्रकार की यह पायनियर वाली संस्था भी है; पर बहुत सी बातो मे यह स्काउटोवाली संस्था से बहुत कुछ आगे बढ़ी हुई है। इन पायनियरो की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह होती है कि ये राज्य के सामाजिक ढाँचे का एक महत्वपूर्ण अंग होते हैं।

अन्य देशों के स्काउटों को यों ही सिखला दिया जाता है 'रोज एक अच्छा काम करना चाहिए।' पर कोई स्काउट रोज़ एक अच्छा काम नहीं करता। हाँ, जब कभी किसी स्काउट से कोई अच्छा काम हो गया, तब हो गया। परंतु पायनियरों के लिए यह नितांत आवश्यक और अनिवार्य है कि वे नियमित रूप से नित्य एक अच्छा काम करें ही। और हरएक पायनियर को नित्य सामाजिक सेवा का एक-न-एक अच्छा और बड़ा काम अवश्य ही करना पड़ता है। कोमसोमोल मे केवल नवयुवक ही सदस्य रहते हैं और क्रांतिकारी देश में नवयुवकों से बहुत बड़ी-बड़ी आशायें की जाती हैं; और इसी-लिए शासन के क्षेत्र में इनसे इतनी अधिक सहायता मिलती है, जितनी यूरोप के और किसी देश में इस तरह की संस्थाओं से कभी मिल ही नहीं सकती। बहुत से उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर प्रायः कोमसोमोल ही काम करते हुए दिखाई देते हैं।

इस दल को उसके सिद्धान्तों के अनुसार चलाने का काम नेताओं के हाथ में रहता है। इस दल की कांग्रेसों मे जो निश्चय होते हैं, उनका ठीक-ठीक आशय लोगों को बतलाना और उन्हें उन सिद्धांतों के अनुसार चलाना नेताओं का ही काम है। वास्तव में लेनिन ने ही आरम्भ में सन १६२३ तक इस दल की सारी नीति पूरी तरह से स्थिर कर दी थी। उसके बाद यद्यपि नेताओं में सिद्धांतों के सम्बन्ध मे बहुत कुछ वाद-विवाद होता रहा है, परंतु नीति स्थिर करने का काम अधिकतर स्टालिन के ही हाथ में रहा है। परंतु देश में लेनिन के प्रति लोगों का जो आदर था और स्टालिन के प्रति जो आदर है, उसका कारण यह नहीं है कि वे ऊँचे-ऊँचे राजकीय पदों पर रहते आये हैं या उन्होंने बड़े-बड़े अधिकार अपने हाथ में ले रक्खे थे। लेनिन जनता के कमिशरों की कौन्सिल का सभापति था और स्टालिन दल का मंत्री है। परंतु

केवल इन पदों पर पहुँच जाने से ही कोई नेता नहीं हो जाता। नेतृत्व तो दल की कॉंग्रेसो मे विजयी होने से प्राप्त होता है। ट्रास्की[1] के समय स्टालिन को कई बरसो तक उसके अनुयायियो के साथ काफी लड़ना-झगड़ना पड़ा था, और तब स्टालिन को नेतृत्व प्राप्त हुआ था। इन लड़ाई-झगड़ों का अन्त सन् १९२७ में उस समय हुआ था, जब ट्रास्की देश से निकाल दिया गया था। तब से अब-तक रूस मे नेताओ का इस तरह का कोई बड़ा झगड़ा नहीं हुआ है। अब तो यही होता है कि जो लोग दल की नीति से सहमत नहीं होते, वे चुपचाप दल से अलग कर दिये जाते हैं।

इस दल मे असन्तुष्ट और विरोधी वर्गों के लिए कोई स्थान नहीं है। दल के अन्दर किसी तरह की गुटबंदी करना बहुत बड़ा अपराध समझा जाता है। इसलिए ऊपर से देखनेवालो के मन में स्वभावतः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह दल कहाँ तक प्रतिनिधिसत्तात्मक सिद्धान्तो के अनुसार चलता है और इसके सदस्यों को इसकी नीति स्थिर करने का कहाँ तक अधिकार है। यह ठीक है कि इस प्रश्न का पूरा और संतोषजनक उत्तर वही दे सकता है, जिसने बहुत दिनो तक इस दल में रह कर इसकी सेवा की हो। परंतु यह स्पष्ट है कि ट्रास्कीवाले झगड़े के सम्बन्ध में सारे रूस मे बहुत बड़ा वाद-विवाद छिड़ गया था, और सभाओं में भी तथा समाचारपत्रों में भी कुछ दिनो तक उसकी खूब चर्चा होती थी। इस झगड़े का निर्णय होने में भी बहुत दिन लग गये थे। इन सब बातों का यही मतलब निकलता है कि दल यही

---

१. ट्रास्की एक प्रसिद्ध रूसी राजनीतिज्ञ है जो क्रान्तिकारी होने के कारण कई बार गिरफ्तार और निर्वासित हो चुका है। सन् १९१७ वाली क्रान्ति के बाद वह रूस में विभाग मन्त्री था। आज-कल वह फिर निर्वासित है।

चाहता है कि हमारा जो निश्चय हो, उसे सब लोग पूरी तरह से माने। यूरोप के अन्यान्य उदार देशों मे यही कहा जाता है कि अल्प-संख्यको के लिए भी क्षेत्र मे कुछ स्थान होना चाहिए। परंतु रूसवाले अल्प-संख्यकों का होना किसी तरह पसंद नहीं करते। फिर भी यह मानना ही पड़ता है कि रूस की अन्यान्य संस्थाओं की तरह साम्यवादी दल में भी बहुत सी बातो में लोगों को स्थानिक और व्यक्तिगत रूप से ऐसे विषयों मे अपना स्वतन्त्र मत रखने का अधिकार होता है, जो प्रजातंत्री संघ की रक्षा और कल्याण के लिए विशेष आवश्यक नहीं समझे जाते। मतलब यह कि बहुत सी बातो मे वहाँ लोगो को अपना स्वतंत्र मत रखने का भी अधिकार होता है और विरुद्ध पक्ष का उस प्रकार दमन या नाश नहीं होता, जिस प्रकार जर्मनी या इटली मे होता है। इस सम्बन्ध में एक बात यह भी ध्यान रखने की है कि जो लोग विरोधी होने के कारण देश से निर्वासित कर दिये जाते हैं, वे भी चाहे स्टालिन और उसके मित्रों के सम्बन्ध मे जो कुछ कहा करे, परंतु फिर भी वे स्वयं साम्यवादी दल या उसके सिद्धान्तो के विरुद्ध कभी कोई आक्षेप नहीं करते। अर्थात् वहाँ जो झगड़े होते हैं, वे व्यक्तिगत होते हैं, दल या उसके सिद्धान्तो के सम्बन्ध में नहीं होते।

कुछ लोग साम्यवादी दल की तुलना फैसिस्ट और नाजी दलो के साथ करते हैं, और कुछ लोग उसे ईसाइयो के जेसुइट सम्प्रदाय के समान बतलाते हैं। परन्तु ये दोनो ही तुलनाये ठीक नहीं है। यह ठीक है कि साम्यवादी लोग इस बात में फैसिस्टो और नाजियो के समान हैं कि वे अपने सदस्यो से दल की व्यक्तिगत रूप से सेवा कराते हैं और समाज के सभी अंगों का अपने ही सिद्धान्त और नीति के अनुसार चलाना चाहते हैं। कम-से-कम एक और बात में फैसिस्ट भी नाजियों की अपेक्षा साम्यवादियो से अधिक

मिलते हुए हैं। नाजी लोग अपने दल मे चुने हुए लोगो की अपेक्षा कुछ और लोगो को भी ले लेते हैं; परन्तु साम्यवादी और फैसिस्ट बहुत ही सोच-समझ कर और सिर्फ खास-खास चुने हुए आदमियो को ही अपने दल मे लेते हैं। नाजी नेता प्रायः जोशीले व्याख्यान देकर लोगों को उत्तेजित करने का प्रयत्न करते रहते हैं, परन्तु साम्यवादी और फैसिस्ट लोगो को अपने सिद्धान्त अच्छी तरह समझा कर उन्हें अपने साथ मिलाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार दोनो का प्रचार का ढंग बहुत कुछ समान है।

साम्यवादी और फैसिस्टो में यह तो एक बहुत बड़ा और स्पष्ट अन्तर है ही कि साम्यवादियो लोग साम्यवाद के सिद्धान्त मानते हैं और फैसिस्ट उन सिद्धान्तों को बिल्कुल नहीं मानते; लेकिन इसके सिवा साम्यवादी की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि वे सिर्फ बहुत ही चुने हुए लोगो को अपने दल का सदस्य बनाते है और जो व्यक्ति बहुत दिनों से खूब समझ-बूझकर उनके सिद्धान्तो को मानता आता है, केवल उसी को अपने दल में मिलाते हैं। यह बात नाजियो में तो बिल्कुल है ही नहीं, पर फैसिस्टों मे भी बहुत कम है।

जेसुइटो के साथ साम्यवादियो की जो तुलना की जाती है, उसके सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि साम्यवादियो का कोई संसार-त्यागी सम्प्रदाय नहीं है। साम्यवादी दल के सदस्यो को समाज के दूसरे नवयुवको से अलग रखकर विशेष प्रकार की कोई शिक्षा नहीं दी जाती। साधारण बालकों और युवको को जिस प्रकार की शिक्षा मिलती है, उसी प्रकार की शिक्षा साम्यवादियो को भी मिलती है। इसके अलावा साम्यवादी लोग न तो जेसुइटो की तरह ब्रह्मचारी ही रहते हैं और न किसी विशेष प्रकार के आचार-विचार का पालन करते हैं।

साम्यवादी दल कोई याजकों और धर्म-पुरोहितों का दल

नहीं है । इस दल के कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं और जो कोई वे सिद्धान्त पूरी तरह से मानता है, वही इसमें सम्मिलित हो सकता है। उन सिद्धान्तो का केवल उपदेश देनेवालो के लिए इस दल मे कोई स्थान नही है।

सोविएट शासन के दो अंग—सोविएट शासन मे एक ओर तो पूरा-पूरा प्रकाश और ज्ञान दिखलाई देता है और दूसरी ओर उसके बिल्कुल विपरीत घोर अन्धकार और अज्ञान नजर आता है। जो लोग रूसी राजनीति का अध्ययन करते है, वे इन दोनों विरोधी बातो को एक साथ देखकर चक्कर मे पड़ जाते हैं। सोविएट रूस में एक ओर तो यह नियम है कि बालकों से कल-कारखानो में किसी तरह का काम न लिया जाय। और दूसरी ओर सोविएट शासन के विरोधी उन कृषको पर, जो पुराने ढंग से निजी रूप से खेती-बारी करते और कुलकी कहलाते है, अनेक प्रकार के अत्याचार होते हैं। साधारण अपराधियो को तो वहाँ हर तरह से सुधारने और अच्छा नागरिक बनाने का प्रयत्न किया जाता है; परन्तु जो लोग इस क्रान्ति के विरुद्ध आन्दोलन करते करते हैं या जिन पर राज्य के किसी प्रकार के विरोध का सन्देह होता है, उनके साथ जेलखानो मे बहुत ही कठोर व्यवहार होता है। इस प्रकार एक ओर तो सोविएट शासन बहुत अधिक उदारता से काम लेता है और दूसरी ओर बहुत कठोरता और संकीर्णता से। यही विरोध लोगों की समझ में जल्दी नहीं आता। इसलिए यहाँ इस प्रकार की कुछ बातों का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

सोविएट रूस एक ऐसा देश है जिसके दो रुख हैं। इसका एक रुख तो वह है जो साम्यवादी समाज का है। यह समाज चारो ओर पूँजीदारो से घिरा हुआ है और उन्हीं के बीच में—बत्तीस दाँतो मे जीभ की तरह—रहकर उसे इस बात का निरन्तर

प्रयत्न करना पड़ता है कि किसी प्रकार हमारा अस्तित्व नष्ट न होने पावे। यह समाज पूरी तरह से तो मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुसार नही चलता, लेकिन फिर भी बहुत कुछ उसी के दिखलाये हुए मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है। अबतक इस समाज ने जो काम किये हैं, उनकी यह हर प्रकार के आक्रमणों और आघातों से रक्षा करने का सदा प्रयत्न करता रहता है। इसके विरुद्ध इसका जो दूसरा रुख है, उसमे एक ऐसा देश है जिसमें बहुत दिनो से साम्यवाद के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के प्रयोग होते आये हैं। इन प्रयोगों में कुछ तो सफल हुए हैं और कुछ विफल। परन्तु ये सब प्रयोग प्रायः ऐसे ही सिद्धान्तो और विचारों के आधार पर हुये हैं, जिनका मार्क्स के साथ प्रायः नही के समान सम्बन्ध रहा है। इसका कारण यही है कि मार्क्स के लेखों आदि में कहीं साफ तरह से यह नहीं बतलाया गया है कि साम्यवादी राज्य में जनता का जीवन किस प्रकार का होना चाहिए।

वर्तमान रूस का संघटन पहले रुख से सम्बन्ध रखता है, और उसके सब काम सोविएटों या पंचायतों के आधार पर होते हैं। इसीलिए अधिकारियों को सारे देश मे उसी कलेक्टिववाली संस्था का खूब जोरों से प्रचार करना पड़ता है, क्योंकि वे लोग चाहते हैं कि किसानो का कोई ऐसा वर्ग न रह जाय जो इस कलेक्टिव-वाली संस्थाओं के सिद्धान्त न मानता हो। उन्हे डर है कि यदि देश मे इस तरह के थोड़े बहुत किसान रह जायँगे जो व्यक्तिगत और निजी रूप से खेती-बारी करते रहेंगे और सामूहिक सिद्धान्तों के विरोधी होंगे, तो वे आगे चलकर किसी समय एक और नई क्रान्ति खड़ी कर देंगे जिसके फल-स्वरूप रूस की भी बहुत कुछ आज-कल के फ्रान्स की सी ही अवस्था हो जायगी। इसीलिए उन्हे उन बाहरी शत्रुओं का भी दमन करना पड़ता है जो सोविएट शासन का नाश करना चाहते हैं और देश में रहनेवाले देश-द्रोहियों

को भी दबाना पड़ता है। रूस की लाल सेना भी और राजकीय राजनीतिक विभाग भी इसी प्रकार के दमन और शासन के लिये हैं। और इसी के अनुसार सोविएट सरकार को अपनी वह पर-राष्ट्रीय नीति भी स्थिर करनी पड़ी है जिसका मार्क्स के सिद्धान्तो के साथ बहुत ही कम मेल है। और इसका मुख्य कारण यही है कि मार्क्स के दर्शन मे कहीं यह नहीं बतलाया गया है कि पूँजी-दारीवाले संसार मे साम्यवादी सरकार का आचरण और व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए।

मार्क्स ने अपने सिद्धान्त बहुत कुछ यही मान कर स्थिर किये हैं कि सारे संसार में साम्राज्यवादी पूँजीदारी की प्रथा पूरी तरह से नष्ट हो जायगी और हर जगह साम्यवाद का ही राज्य दिखाई देगा। उस में यह तो नहीं कहा गया है कि सारे संसार में सभी देशो में एक साथ ही साम्यवाद स्थापित हो जायगा; लेकिन फिर भी यह जरूर समझा गया है कि थोड़े ही समय के अन्दर सब देश साम्यवादी हो जायँगे। अक्तूबर १६१७ में रूस मे जो राज्य-क्रान्ति हुई थी, उसके बाद कुछ दिनों तक रूस के क्रान्तिकारी नेता यही समझते थे कि यह भविष्यद्वाणी शीघ्र ही पूरी होगी और रूस की देखा-देखी संसार के और सब देशो मे या कम-से-कम यूरोप के सभी देशो मे साम्यवादी राज्यो की स्थापना हो जायगी। उसी समय के लगभग जर्मनी मे भी एक राजनीतिक क्रान्ति हुई थी और यह समझा जाता था कि वहाँ भी शीघ्र ही साम्यवाद के सिद्धान्तो का बोल-बाला होगा।

बवेरिया और हंगरी मे तो साम्यवादी सरकारे स्थापित भी हो गई थीं। यहाँ तक कि ग्रेट ब्रिटेन मे भी कारखानो के मजदूरो और युद्ध से लौटे हुए सिपाहियो ने कुछ समय के लिए एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसने वहाँ के अधिकारियो और शासको को बहुत कुछ चिन्तित कर दिया था। इन सब बातो से

रूसी यही समझते थे कि अब बहुत जल्दी सारे संसार में साम्यवादी क्रान्ति होना चाहती है। वे यह भी समझते थे की बिना आस-पास के देशो के साम्यवादी हुए हमारा काम किसी तरह चल ही नहीं सकेगा। आस-पास के देश साम्यवादी हो कर जब हमारी सहायता करेंगे, तभी हमारी क्रान्ति भी सफल हो सकेगी। उन्हे यह आशा ही नही थी कि अ-साम्यवादी देशो से घिरे रह कर हम अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकेंगे।

इसीलिए कई बहुत बड़ी-बड़ी सभायें करके यह निश्चय किया था कि दूसरे पूँजीदार देशो की प्रजा को भी इसी तरह की साम्यवादी क्रान्ति करने के लिए उत्साहित करना चाहिए और इसके लिए हर तरह से उनकी सहायता करनी चाहिए। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यो उन्हे यह मालूम होता गया कि संसारव्यापी साम्यवादी क्रान्ति अभी बहुत दूर है, और अभी कोई देश रूस के आदर्श पर चलने के लिए तैयार नहीं है। इसी बीच में रूस में कुछ गृह-युद्ध भी छिड़ गया था, और कई विदेशी सेनापतियो ने उस पर सैनिक आक्रमण भी कर दिया था।

जब रूस ने इन दोनो ही विपत्तियों से छुटकारा पाया, तब उसके सामने यह प्रश्न आया कि अब हम दूसरे देशों में भी क्रान्ति करने का प्रयत्न करे या पूँजीदार संसार के साथ किसी तरह का समझौता कर लें। ट्राट्स्की का मत था कि हमें अपने पूर्व निश्चय के अनुसार सारे संसार के देशो मे क्रान्ति करने का प्रयत्न करना चाहिए; और स्टालिन कहता था कि हमें अन्यान्य देशों के साथ समझौता करके और अपने देश की अवस्था सुधार कर सारे संसार के सामने साम्यवादी राज्य का एक अच्छा आदर्श उपस्थित करना चाहिए, जिसे देख कर और देश आप-से-आप हमारा अनुकरण करना चाहेंगे।

यदि ट्रास्की की नीति मान ली जाती तो सम्भवतः रूस को सारे संसार के साथ अकेले ही लड़ना पड़ता और उस लड़ाई में शायद रूस का नाश ही हो जाता। ट्रास्की और स्टालिन में नीति के सम्बन्ध मे जो यह झगड़ा हुआ था, इसने बहुत उग्र रूप धारण किया था; परन्तु इसमे अन्त मे स्टालिन की ही विजय हुई और ट्रास्की को देश छोड़ कर भागना पड़ा। बस उसी समय से रूस के उस दल की पूरी हार हो गई जो सारे संसार मे साम्यवादी क्रान्ति करना चाहता था। तब से जब जैसा मौका आता था, तब रूस अपनी वैसी ही पर-राष्ट्रीय नीति स्थिर करता था। इसमें उसका मुख्य उद्देश्य यही होता था कि हमारे साम्यवादी सिद्धान्तो की किसी प्रकार हत्या न होने पावे, और जहाँ तक हो सके, दूसरे देशों के साथ कोई नया झगड़ा भी न खड़ा होने पावे।

जिन देशों के सम्बन्ध में रूसी सरकार अच्छी तरह यह जानती है कि ये हमारे विनाश से ही प्रसन्न होगे, उनके साथ भी वह अपनी ओर से रूसी क्रान्तिकारी कोई वैर नही करती। और जिस राष्ट्र-संघ की किसी समय बहुत अधिक निन्दा करते थे, उसके कामो और अधिवेशनों मे भी अब वे सहर्ष सम्मिलित होते हैं। जिन देशो के सम्बन्ध मे वे यह समझते हैं कि ये हमारा आर्थिक कार्य-क्रम आगे चल कर मान सकते हैं, उनके साथ वे विशेष मित्रता का व्यवहार रखते है और उन्हे अनेक प्रकार से साम्यवाद की ओर प्रवृत्त होने के लिए प्रोत्साहित भी करते रहते है। वे उन्हें यह बतलाते रहते हैं कि बिना बीचवाली सीढ़ियो पर पैर रक्खे भी यदि कोई देश चाहे तो वह साम्यवाद के शिखर पर पहुँच सकता है। इसके लिए उन बीचवाली अवस्थाओ को पार करने की आवश्यकता नहीं है जिन अवस्थाओ मे अनेक पाश्चात्य देश पड़े हुए है।

अब इसका वह दूसरा रुख लीजिए जिसमें सोवियट शासन-काल के वे सब सामाजिक प्रयोग आते हैं जो अबतक हुए हैं। हमारे पास यहाँ इतना स्थान नहीं है कि उन सब का पूरा-पूरा विवेचन किया जाय। हम केवल यही बतलाना चाहते हैं कि इस बात में प्रायः सभी लोग सहमत हैं कि स्त्रियो, बच्चों, शिक्षा, संस्कृति तथा जीवन की इसी प्रकार की और बातों के सम्बन्ध मे क्रांति के बाद से जितने क़ानून और संस्थाये बनी हैं, वे सब बहुत ही प्रशंसनीय हैं; या कम-से-कम जिन विचारो से प्रेरित हो कर वे क़ानून और संस्थायें बनाई गई हैं, उनके उत्तम होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।

एक दूसरी विशेषता यह है कि सारे रूस में शिल्प और उद्योग-धन्धे बढ़ाने का बहुत अधिक प्रयत्न किया गया है, परंतु वे अमानुषिक अत्याचार और विकट यातनायें वहाँ नहीं आने पाई हैं जो यूरोप के सभी शिल्पी देशों में शिल्पी क्रांति के बाद से बहुत अधिक मात्रा में दिखाई देने लगी हैं। रूस में शिल्प तो बहुत अधिक बढ़ा है, पर उसके कारण कमकरो और मजदूरो पर किसी तरह का अत्याचार नहीं होता, न कहीं उनके साथ निर्दयता का ही कोई व्यवहार होता है और न इन शिल्पों तथा उद्योग-धन्धो से जो लाभ होता है, वह साम्यवादी सिद्धांतों के अनुसार अधिक-से-अधिक लोग को बहुत कुछ समान रूप से पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है। जहाँ तक हो सकता है, सब के दुःख दूर करने का और सब को सुखी करने का समान रूप से प्रयत्न किया जाता है।

ये सब देश के आन्तरिक प्रयोगो से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं। जो लोग हर तरह के साम्यवाद के घोर विरोधी नहीं है, वेलोग भी और बहुत से दूसरे लोग भी, आधुनिक रूसका दमनवाला अंग बहुत ही नापसंद करते हैं। वे यह बात अवश्य ही मानते हैं कि

पाश्चात्य जगत रूस की सब बातो की भले ही नक़ल न करे, लेकिन फिर भी वह बहुत सी अच्छी बाते सीख सकता है। रूस मे जो कानूनी और अदालती कार्रवाइयाँ होती हैं, वे हद से ज्यादा सीधी-सादी होती हैं और उनमे फिजूल की रस्मो और पाबन्दियो का कहीं नाम भी नहीं है। वहाँ न तो अदालती कार्रवाइयाँ पेचीदा होती हैं और न कानूनी दाव-पेच होते है। वहाँ कानून-पेशा लोगो का कोई अलग वर्ग भी नहीं होता।

वहाँ जज भी दो तरह के होते हैं—एक तो स्थायी और दूसरे ऐसे लोग जो अदालत के काम के सिवा और तरह के पेशे भी करते हैं। जब उन्हें अदालत मे कोई काम नहीं होता, तब वे अपना पेशा या काम करते है; और जब जरूरत होती है, तब स्थायी जजो के साथ न्यायालय मे बैठकर मुकदमे सुनते हैं। उन्हे न तो कानून का बहुत अधिक ज्ञान ही होता है और न उसकी विशेष आवश्यकता ही होती है। वहाँ बहुत ही सीधे-सादे मुकदमे होते हैं और बहुत ही सीधी तरह से उनका विचार होता है।

वहाँ वकीलो को किसी तरह की फीस नहीं मिलती। सरकार की तरफ से उनका बँधा हुआ वेतन होता है. जिससे वे अपना निर्वाह करते हैं। इसलिए व्यर्थ के मुकदमे लड़ाने में उनका कभी कोई स्वार्थ नहीं होता। किसी अभियुक्त को बचाने के लिये उसके पक्ष में जितनी बातें कही जा सकती हैं, वे सब साफ-साफ कह दी जाती है, और उन्हें जबर्दस्ती कानून के चंगुल में फँसाने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। अगर वह दोपी ठहरता है तो उसे वही उचित दण्ड दिया जाता है जो उसके अपराध को देखते हुए उपयुक्त होता है। वहाँ सजाये भी बहुत हलकी दी जाती हैं, और इस बात का भी पूरा-पूरा उद्योग किया जाता है कि जेलखाने मे

रह कर आदमी बिल्कुल सुधर जाय और उसके दोष दूर हो जायँ। उसके साथ ऐसा बर्ताव नहीं किया जाता जो उसे अपराधों का अभ्यस्त बनावे और उसे "जेल की चिड़िया" बना दे।

इस तरह की सभी बातों में रूस में जितने कायदे-कानून हैं, वे केवल आदर्श उपस्थित करने के विचार से बनते हैं, जिनको देखकर पाश्चात्य देशो के निवासी चकित होते हैं। पाश्चात्य देशो में यही समझा जाता है कि कायदे-कानून में कहीं कोई अपवाद नहीं होना चाहिए। वे यह भी समझते हैं कि जो कानून काम मे नही लाया जाता, वह या तो खराब कानून है या उससे कानून का दुरुपयोग होता है।

लेकिन आधुनिक रूस की कानून के सम्बन्ध में कुछ और ही धारणा है। वहाँ कानूनों के द्वारा सिर्फ लोगों को यह बतलाया जाता है कि साधारणतः कोई काम किस प्रकार होना चाहिए। और जिस कानून का जितना महत्त्व होता है, प्रायः उसका उतना ही प्रयोग किया जाता है। साथ ही इस बात का भी ध्यान रक्खा जाता है कि कोई कानून कहाँ तक काम में आ सकता है, और उसकी कहाँ तक पाबन्दी हो सकती है ? जब कहीं किसी कानून की पाबन्दी कराने की जरूरत होती है, तब इस बात का भी खयाल रक्खा जाता है कि इसकी पाबन्दी करने में लोगो को कहाँ तक दिक्कत होती है। वहाँ कानून बना कर रख दिये जाते हैं और इस बात का विचार कलेक्टिव पर छोड़ दिया जाता है कि किसी कानून की कहाँ तक पाबन्दी होनी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रक्खा जाता है कि व्यर्थ और कष्टदायक रूप में किसी कानून की पाबन्दी न कराई जाय। इस बात की भी देख-रेख रक्खी जाती है कि कानून ने लोगो को जो सुभीते दे रक्खे हैं, उनका कहीं दुरुपयोग तो नहीं हो रहा है।

इसीलिए रूस में कानून बनाये तो बहुत बड़े-बड़े इरादो से

जाते हैं, लेकिन उनकी पाबन्दी बहुत ही समझ-बूझ कर कराई जाती है। और कानून तथा उसकी पाबन्दी मे यही बहुत बड़ा अन्तर देख कर पाश्चात्य देशो के निवासी बहुत घबराते हैं। वहाँ हरएक कानून सिर्फ इसी इरादे से बनाया जाता है कि वह साधारण अवस्थाओ मे लोगो के लिए आदर्श का काम दे और जब आवश्यकता हो, तब ठीक तरह से काम में भी लाया जा सके। यही कारण है कि साधारण अपराधियो के साथ तो वहाँ बहुत अच्छा और ऐमा व्यवहार होता है जिससे उनका सुधार हो सके और राजनीतिक अपराधियो के साथ बहुत ही कठोर व्यवहार होता है।

दूसरी ओर एक राजकीय राजनीतिक विभाग है जिस पर संघटन-विधान के अनुसार केन्द्रीय कार्यकारिणी कमेटी का नाम-मात्र का नियन्त्रण है। सारे प्रजातन्त्री संघ में जिन लोगो पर इस क्रान्ति के विरुद्ध प्रयत्न करने का सन्देह होता है, उन सब लोगो पर और समस्त पुलिस-विभाग पर इसी विभाग का पूरा नियन्त्रण होता है। राजद्रोह के अपराधियो को यही विभाग दण्ड देता है। इसे सर्व-साधारण के सामने कभी अपनी कोई कैफियत देने की आवश्यकता नहीं होती।

सारे देश में इसके वर्दीवाले कर्मचारी तो रहते ही हैं, पर साथ-ही-साथ बिना वर्दी के भी इतने गुप्तचर रहते हैं, जिनकी सख्या किसी को मालूम नही हो सकती।

एलन मान्कहाउस नामक एक सज्जन हैं जो साम्यवादी तो नहीं है, पर फिर भी साम्यवादी रूस के साथ कुछ सहानुभूति अवश्य रखते हैं। उनका कहना है कि यह विभाग वास्तव में उतना अधिक भीषण तो नहीं है, लेकिन यह ऐसे ढंग से काम करता है कि लोग इसे बहुत अधिक भीषण समझते हैं। यह बात अवश्य ही बिल्कुल ठीक है कि लाल सेना के सदस्यो की तरह इस विभाग के

सदस्य भी साधारण पुलिस कर्मचारियो की अपेक्षा जनता के हित के बहुत बड़े-बड़े सामाजिक काम करते हैं। लेकिन फिर भी जो संस्था गुप्तचरो से काम लेती हो और देश मे आतंक फैलाती हो, उसे स्वतन्त्रता-प्रेमी कभी अच्छी दृष्टि से नही देख सकते।

अभी कुछ दिन पहले यह कहा गया था कि यह विभाग तोड़ दिया जायगा। मालूम नही कि अभी तोड़ा गया या नही। यदि इस समय यह तोड़ भी दिया जाय तो भी सहज मे यह विश्वास नही होता कि आजकल के ज़माने मे इसके स्थान पर इसी तरह का कोई और विभाग न बनेगा।

कोई यह नही कह सकता कि रूस के राजनीतिक जीवन मे इन दोनो तत्त्वो का क्या भविष्य होगा। इसका उत्तर मुख्यतः दो बातो पर निर्भर होता है। उनमे से एक बात तो यह है कि रूस को साम्यवादी उपायो से अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने में कहाँ तक सफलता होती है। दूसरी बात यह है कि बाहरी जगत् का रूस के साथ कैसा व्यवहार होता है। इस प्रश्न का मार्क्स का सनातनी उत्तर तो यही है कि जिस देश में साम्यवाद के सिद्धान्तो के अनुसार पूरी तरह से काम होने लगता है, उस देश मे "राज्य" अर्थात् दमन करनेवाले यन्त्र की कोई आवश्यकता ही नही रह जाती, और वह आप-से-आप नष्ट हो जाता है। लेकिन साम्यवाद के पूरी तरह से स्थापित हो जाने का यह मतलब जरूर है कि यदि सारे संसार मे साम्यवाद पूरी तरह से स्थापित न भी हो, तो भी कम-से-कम ऐसी अवस्था तो अवश्य ही उत्पन्न हो जाय जिसमे साम्यवादी देशो या राज्यो को यह खटका न रह जाय कि हमारे पूँजीदार पड़ोसी हम पर आक्रमण करेंगे।

रूस की संस्थाओं ने अबतक कम-से-कम इतनी उन्नति तो अवश्य कर ली है कि सब लोग अच्छी तरह से समझ सकते है

कि वर्त्तमान परिस्थितियों मे भी साम्यवाद क्या-क्या कर सकता है। लेकिन अभी तक विदेशी राष्ट्र जिस दृष्टि से रूसी प्रणाली को देखते हैं, उससे कभी यह आशा नही की जा सकती कि रूस मे दमन करनेवाले उस यन्त्र का, जो "राज्य" कहलाता है, जल्दी अन्त होगा। जो राज्य रूस पर किसी प्रकार का आक्रमण नही करना चाहते, उनका रुख भी कुछ ऐसा ही है कि उसे देखते हुए अभी रूस को अपने यहाँ यह यंत्र प्रचलित रखना पड़ेगा। आज अगर कोई रूसी साम्यवादी यह कहे कि हमें अपने शत्रुओ की कोई परवाह नहीं करनी चाहिए और सारे अस्त्र-शस्त्रो तथा सेनाओं का अन्त कर देना चाहिए तो वह राजनीतिक दृष्टि से बहुत बड़ा बेवकूफ माना जायगा।

दमनकारी संस्थाओ का जीवन दो प्रकार का हुआ करता है—एक मुख्य और दूसरा गौण। अपने मुख्य जीवन मे तो वे दमन का पूरा-पूरा काम करती ही है। परन्तु इतिहास हमे बतलाता है कि उनके गौण जीवन का वह समय भी आ जाता है जबकि उन्हे दमन करने की कोई आवश्यकता नही रह जाती और वे एक कोने मे निकम्मी होकर पड़ी रहती हैं; और यहाँ तक कि लोगो की निगाहों मे खटकने भी लगती हैं। लेकिन यह अवस्था तभी आती है जबकि उन्हे अपने पड़ोसियो से किसी तरह का भय नही रह जाता। जब कोई राज्य चारों ओर से निश्चिन्त रहता है, तभी वह अपना शासन-यन्त्र ढीला कर सकता है। अभी वर्तमान संसार मे किसी राष्ट्र को इस अवस्था तक पहुँचने मे बहुत देर लगेगी।

अभी तो सारे संसार पर अस्त्रीकरण का भूत सवार है, और इधर साल भर से तो राष्ट्रों के भय और आतंक की मात्रा इतनी बढ़ गई है, जितनी शायद आज तक कभी नहीं बढ़ी थी। रूस के बाहर अन्यान्य देशो मे भी बहुत से ऐसे आदमी हैं जो

यह चाहते है कि दमन और शासन करनेवाली संस्थाओं का अन्त हो जाय और साम्यवादी संस्थाओ को अपना प्रयोग और विकास करने का अवसर दिया जाय। परन्तु इस प्रकार का अवसर प्राप्त करना स्वयं रूस के हाथ मे नही है; उसे इस तरह का अवसर देना केवल दूसरे राज्यों के हाथ मे है।[1]

साम्यवादी रूस की सफलता—यह प्रकरण सम्भवतः बहुत कुछ अधूरा रह जायगा, यदि यहाँ संक्षेप मे यह भी न बतला दिया जाय कि रूस मे इधर थोड़े दिनो से जो साम्यवादी प्रयोग हो रहा है, उसमें रूस को कहाँ तक सफलता हुई है, और उससे वह कहाँ तक उन्नत तथा अग्रसर हुआ है। यहाँ सबसे पहले हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कम-से-कम इस समय रूस ने अपनी उस पुरानी नीति का परित्याग कर दिया है, जिसके अनुसार वह सारे संसार में साम्यवादी क्रान्ति करना चाहता था। अब तो उसका उद्देश्य केवल यही है कि सारे संसार के सामने साम्यवादी तन्त्र का एक ऐसा अच्छा आदर्श उपस्थित किया जाय कि लोग यदि सचमुच उसे अच्छा समझे तो आप-से-आप उसे ग्रहण करे। वह फैसिस्टों और नाज़ियो की तरह बलपूर्वक सारे संसार में अपने सिद्धान्तो का प्रचार और प्रस्थापन नहीं करना चाहता। किसी देश पर अकारण आक्रमण करना भी उसके सिद्धान्त के विरुद्ध है।

परन्तु कठिनता यह है कि संसार की वर्तमान परिस्थिति उसे तरह-तरह के सैनिक आयोजन करने के लिये विवश करती है। फैसिस्ट और नाजी सिद्धान्ततः उसके कट्टर शत्रु हैं। उन का कहना है कि यह साम्यवादी नीति बर्बरतापूर्ण है और यदि

१. कोल की मूल पुस्तक में यह प्रकरण यहीं समाप्त होता है। इस प्रकरण की इससे आगे की पंक्तियाँ स्वयं मेरी लिखी हुई है। इन के लिए मूल लेखक उत्तरदायी नहीं समझे जाने चाहिएं। रा० चं० वर्मा।

इसका नाश न किया जायगा तो यह यूरोप की सभ्यता और संस्कृति का नाश कर डालेगी; मानो वे लोग यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति क ठेकेदार है और किसी दूसरे को कोई नई सभ्यता या संस्कृति स्थापित नहीं करने देंगे। इन्हीं की देखा-देखी जापान भी केवल स्वार्थवश उनके साथ मिल गया है। स्वार्थवश इसलिए कि वह कभी यूरोप की सभ्यता और संस्कृति का ठेकेदार होने का दम नहीं भर सकता। अभी हाल मे वह स्पेन भी इन्हीं लोगो के दल में मिल गया था जिसमे इटली और जर्मनी की सहायता से जनरल फ्रैंको ने सारा अधिकार अपने हाथ मे ले लिया है। कुछ दिन पहले इटली और जर्मनी की ओर से इस बात का भी प्रयत्न हो रहा था कि हंगरी भी खुल कर इस बात की घोषणा कर दे कि हम रूस की साम्यवादी प्रणाली के केवल विरोधी ही नहीं है, बल्कि शत्रु भी हैं।

यह तो हुई उन लोगों की बात जिन्होंने हर तरह से साम्यवादी रूस का नाश करने का बीड़ा-सा उठा रक्खा था। उधर इंग्लैण्ड और फ्रांस भी रूस को कभी अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे। वे जर्मनी और इटली का अत्याचार चुपचाप देखने के लिए तैयार थे, लेकिन उनका विरोध करने के लिए रूस से मिलना नहीं चाहते थे।

सन् १६३६ के आरम्भ में जब जर्मनी आसपास के छोटे-छोटे राष्ट्रों पर बलपूर्वक अधिकार करने लगा, तब बिल्कुल लाचारी की हालत मे इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने रूस के साथ मिलने का विचार किया।

दोनों महीनो तक रूस को अपनी तरफ मिलाने का प्रयत्न करते रहे। पर रूस की जो शर्तें थीं, वे उन्हे मंजूर नहीं थीं। इसलिए कुछ भी फल न हुआ। उधर जर्मनी भी गुप्त रूप से रूस को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न कर रहा था। जर्मनी की

बहुत बड़ी राजनीतिक जीत यह हुई कि उसने रूस की सभी शर्तें मानकर उसके साथ समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार यह निश्चय हुआ था कि जर्मनी और रूस आपस मे एक-दूसरे पर आक्रमण न करेंगे। इस प्रकार अपने पूर्वी शत्रु की ओर से बिल्कुल निश्चिन्त होकर जर्मनी ने पोलैण्ड पर चढ़ाई कर दी। लेकिन जब दो-ढाई सप्ताह के अन्दर ही प्रायः आधा पोलैण्ड तहस-नहस करके जर्मन सेनायें वहाँ की राजधानी वारसा में जा पहुँचीं, तब रूसी सेनाओं ने तुरन्त आगे बढ़कर पोलैण्ड के बाकी सभी हिस्सों पर बिना किसी प्रकार के रक्तपात के अधिकार कर लिया। इसके बाद जब रूस ने देखा कि अब जर्मनी पश्चिम की रियासतों की तरफ बढ़ना चाहता है, तब उसने बाल्टिक सागर के तट के लैट्विया, एस्टोनिया और लिथुआनिया आदि छोटे-छोटे देशों पर अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ किया। इसी प्रयत्न में उसे फिनलैण्ड के साथ कुछ लड़ाई भी करनी पड़ी जो बीच में जाड़ा आ जाने के कारण कोई तीन-चार महीने चलती रही। इस लड़ाई के अन्त मे फ़िनलैण्ड को लाचार होकर रूस की सभी शर्तें माननी पड़ीं और अपने देश का कुछ अंश उसे देकर राजी करना पड़ा।

फिनलैण्ड सरीखे छोटे से देश के साथ रूस को जो कई महीनों तक लड़ना पड़ा, इससे कुछ लोग यह समझने लगे हैं कि रूस की युद्ध-शक्ति वास्तव में नगण्य है। परन्तु यह उनका भ्रम है। वास्तव मे रूस कभी किसी देश पर जल्दी इतनी बुरी तरह से और उस भीषण रूप से आक्रमण नहीं कर सकता, जिस तरह से इस युद्ध में जर्मनी ने बेलजियम और फ्रान्स आदि पर किया था। इस प्रकार के आक्रमणों का प्रजा पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ता है। रूस कभी किसी प्रजा पर इस प्रकार का बुरा प्रभाव डालकर उसे अपना शत्रु नहीं बना सकता। उसे तो

वास्तव में प्रजा को सन्तुष्ट रखना और अपनी तरफ मिलाना पड़ता है। इसीलिए वह ऐसे अवसरों पर उग्र उपायों से काम नहीं ले सकता।

इस सम्बन्ध में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि रूस जिन देशों पर विजय प्राप्त करता है, उनमें वह जर्मनी की तरह लूटमार नहीं मचाता। वह वहाँ केवल अपनी शासन-प्रणाली और अपनी राजनीतिक संस्थाओं का ही प्रचार करता है और उन्हें सोविएट संघ का सदस्य बनाकर अपने संरक्षण में ले लेता है। यह संरक्षण उस प्रकार के संरक्षण से बिल्कुल अलग है, जिस प्रकार के संरक्षण का ढोल पीटकर जर्मनी ने हालैण्ड और बेलजियम आदि पर अधिकार किया है।

इधर हाल में जब जर्मनी को फ्रांस पर पूरी विजय प्राप्त हो गई, तब रूस ने समझ लिया कि शक्तिशाली जर्मनी अब शायद बालकन की तरफ निगाह फेरेगा। इसलिए उसने रूमानिया से उसके बेसेरेबिया और बोकोविना नाम के दो प्रदेश ले लिये। जर्मनी ने भी अवसर देखकर रूस के इस काम में कोई बाधा नहीं दी। उलटे रूमानिया से कह दिया कि तुम रूस की माँग पूरी करके उसे सन्तुष्ट करो। लेकिन इन सब बातों का यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि रूस और जर्मनी में गहरी मित्रता हो गई है। जान पड़ता है कि वास्तव में दोनों अभी तक उसी तरह एक-दूसरे के जानी दुश्मन हैं, जिस तरह पहले थे। और सम्भव है कि बालकन के प्रश्न पर ही आगे चलकर रूस और जर्मनी में युद्ध हो; क्योंकि उस पर दोनों की निगाहें—तेज निगाहें—हैं। उस समय संसार को पता चलेगा कि वास्तव में जर्मनी की युद्ध-शक्ति प्रबल है या रूस की। इस समय एक ही बात स्पष्ट है। वह यह कि वर्तमान युद्ध से लाभ उठाकर रूस भी आस-पास के छोटे-छोटे देशों में सोविएट शासन-प्रणाली

का प्रचार कर रहा है और इसके लिए एक फिनलैण्ड को छोड़कर बाकी और कहीं उसे कोई रक्तपात नही करना पड़ा है।

फ्रांस का तो इस समय एक प्रकार से अस्तित्व ही मिट सा गया है। पर इंग्लैण्ड अब फिर से रूस को प्रसन्न करने का प्रयत्न कर रहा है। और इसका कारण है केवल जर्मनी का आतंक, नही तो वस्तुतः इंग्लैण्ड भी रूस का वैसा ही शत्रु है, जैसा जर्मनी है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि यूरोप का बहुत बड़ा अंश किसी-न-किसी रूप में साम्यवादी रूस का विरोधी है। ऐसी अवस्था में यह किस प्रकार आशा की जा सकती है कि रूस मे शासन और दमन-सम्बन्धी यन्त्रों का जल्दी अन्त होगा ? हाँ, यदि यूरोप के वर्तमान युद्ध के परिणाम-स्वरूप वहाँ की सारी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक इमारत ढह जाय और नई सृष्टि का आरम्भ हो, तब शायद लोगों को इतनी समझ आवे कि वे शान्तिपूर्वक स्वयं भी कालयापन करें और दूसरों को भी करने दें। यही कारण था कि रूस को भी अन्यान्य सभी राष्ट्रो की तरह बहुत जबर्दस्त फौजी तैयारियाँ करनी पड़ी थी। और-और बातो में रूस ने जो उन्नति की है, उसका वर्णन करने से पहले हमें यह आवश्यक जान पड़ता है कि रूस की सैनिक तैयारियों का यहाँ थोड़ा-सा वर्णन कर दिया जाय।

सन् १९३० से अबतक रूस ने जितनी सैन्य-सामग्री प्रस्तुत की है, उतनी शायद और किसी देश ने नहीं की है। बड़े-बड़े ज़ानकारों का कहना है कि आजतक किसी राष्ट्र ने अपनी रक्षा के लिए उतनी ज़बर्दस्त तैयारी नहीं की जितनी रूस ने की है। वहाँ २५ लाख आदमियो की तो ऐसी स्थायी सेना है जो हर दम युद्ध-क्षेत्र में जाने के लिए तैयार रहती है। इसके सिवा १८ लाख ऐसे नागरिक सैनिक हैं जो

आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त युद्ध-क्षेत्र में बुलाये जा सकते है। इसके सिवा १३ लाख ऐसे आदमी भी हैं, जिन्हें युद्ध की थोड़ी बहुत शिक्षा मिली है और जो थोड़े ही समय मे सैनिक रूप मे परिवर्त्तित हो सकते हैं।

कोई दो साल पहले वहाँ सिर्फ २० लाख सैनिक थे। लेकिन जब जर्मनी ने एक ही दिन में सारे आस्ट्रिया पर अधिकार कर लिया, तब स्टालिन ने अपनी सेना मे ५ लाख आदमी और भी बढ़ा लिये थे। उसके लड़नेवाले हवाई जहाजो की संख्या ४० हजार के लगभग है।

स्टालिन कई बार कह चुका है कि इस बात की बहुत बड़ी सम्भावना है कि जर्मनी, इटली और जापान एक साथ मिलकर सोविएट रूस पर चढ़ाई करे। इन तीनो की सम्मिलित शक्तियो का मुकाबिला करने के लिए ही रूस को ये सब तैयारियाँ करनी पड़ी हैं। इधर बीस बरस की सोविएट शिक्षा ने रूस के अधिकांश निवासियो को युद्ध के लिए बिल्कुल तैयार कर रक्खा है।

दो साल पहले रूसी सरकार की जितनी आय हुई थी, उसका पाँचवाँ हिस्सा उसे सैनिक तैयारियों मे ही खर्च करना पड़ा था। रूस पर उक्रेन, फिनलैएड, पोलैएड और मंचुको की तरफ से ही चढ़ाइयाँ हो सकती हैं, इसलिए अधिकांश सेनाये भी इन्हीं सीमाओ पर रक्खी गई हैं। रूस के हवाई जहाज भी जर्मनी और इटली के हवाई जहाजों से बहुत तेज उड़ते है और बहुत दूर तक जा सकते हैं। आज से चार-पाँच बरस पहले रूस के पास जितने जंगी जहाज और सब-मेरीन आदि थे, उन सबकी संख्या अब चौगुनी हो गई है और अपना समुद्री बेड़ा भी उसने अजेय कर लिया है। रूस के सैनिकों की संख्या इटली के सैनिको से चौगुनी और जर्मनी के सैनिको से

तिगुनी है।

समाचार-पत्रों मे प्राय: यह प्रकाशित होता रहता है कि आज रूस में इतने गुप्तचर पकड़े गये और आज इतने विद्रोही मारे गये। इस तरह संसार को यह दिखलाने का प्रयत्न किया जाता है कि रूस मे शान्ति नहीं है और वहाँ की जनता साम्यवादी सरकार की विरोधी है। पर असल मे दूसरे देश ही धन देकर वहाँ लोगो को इस प्रकार के उपद्रव करने के लिये भेजा करते है और रूसी सरकार के लिए उनसे अपनी रक्षा करना आवश्यक हो जाता है।

अभी थोड़े ही दिन पहले साम्यवादी दल की जो कांग्रेस क्रेमलिन में हुई थी, उसमे स्टालिन ने यह बतलाया था कि इस तरह की कार्रवाइयों से रूस दिन-पर-दिन और भी मजबूत होता जाता है। उसने यह भी बतलाया था कि अगस्त १६३८ मे जब जापानियो ने हमारी मंचुकोवाली सीमा की एक पहाड़ी पर बलपूर्वक अधिकार करना चाहा था, तब हमारे सैनिको ने कितने सहज मे आक्रमणकारियों को परास्त करके पीछे हटा दिया था। उसने यह भी कहा था कि सन् १६३७ वाले निर्वाचन मे, जो कई सेनापतियो को प्राण-दण्ड देने के बाद हुआ था, देश के साढ़े अट्ठानवे (६८½) प्रतिशत से भी अधिक जनता ने हमारे दल के पक्ष मे वोट दिया था। इसी से मालूम हो सकता है कि रूस मे सोवियट शासन लोगों को कितना पसन्द है?

कहा जा सकता है कि जर्मनी और इटली में भी हिटलर और मुसोलिनी को प्राय: इतने ही वोट मिलते हैं। पर जब हम देखते हैं कि जर्मनी और इटली में लोक-मत कितनी जबर्दस्ती से दबाया जाता है और रूस में लोक-मत को कहाँ तक उदारतापूर्वक स्वतन्त्र रहने दिया जाता है, और जब हम इस बात का ध्यान करते है कि हिटलर और मुसोलिनी को तो सिर्फ

जर्मनों और इटालियनो के ही वोट मिलते है, लेकिन रूस मे सोवियट दल को वहुत सी भिन्न-भिन्न जातियो के वोट मिलते हैं, तब हमें दोनों के अन्तर स्पष्ट रूप से विदित हो जाते है। स्टालिन ने अपने क्रेमलिनवाले व्याख्यान में यह भी कहा था कि दूसरे देशों के गुप्तचर-विभाग इसी तरह हमारे यहाँ अपने गुप्तचर और हत्यारे तथा हमारी प्रणाली का विनाश करनेवाले आदमी भेजते रहेंगे; और इसीलिए हमें अपने यहाँ का गुप्तचर-विभाग भी इतना मजवूत रखना चाहिए कि जिसमे हम अपनी जनता के समस्त शत्रुओ का समूल नाश कर सकें।

इस व्याख्यान के अन्त में स्टालिन ने यह भी कहा था कि हमारे देश मे जो लोग पूँजी की सहायता से अनुचित लाभ उठाते थे, उनमें से अधिकांश का अन्त हो चुका है और अव सारी सोविएट जनता मे पूरी-पूरी एकता स्थापित हो चुकी है। फिर भी कई शिल्पों और उद्योग-धन्धो मे हमारा देश अभी ब्रिटेन और अमेरिका के संयुक्त राज्यो से वहुत पिछड़ा हुआ है, और अभी हमें निरन्तर सुधार और उन्नति करने की आवश्यकता है।

यह ठीक है कि अभी औद्योगिक दृष्टि से कई वातों मे रूस अन्य कई देशो से बहुत पिछड़ा हुआ है, लेकिन फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि इधर बीस 'वरसो मे उसने अपने यहाँ के उद्योग और शिल्प की जो उन्नति की है, वह आश्चर्यजनक है। वल्कि हम कह सकते हैं कि संसार के इतिहास में उसकी वह उन्नति अनुपम और अभूतपूर्व है। असल में उसकी औद्योगिक उन्नति का आरम्भ सन् १९२० से हुआ था। तीन वरस तक तो लेनिन ने देश की वागडोर अपने हाथ में रक्खी थी; और जब जनवरी सन् १९२४ मे उसका देहान्त हो गया, तब प्रायः सारा भार स्टालिन पर आ पड़ा। तब से आजतक रूस ने जो उन्नति की है, उसका सारा श्रेय प्रायः स्टालिन को ही है।

रूस में प्राकृतिक सम्पत्ति तो अनन्त थी, पर उसका उपयोग बहुत कम होता था। जो कुछ होता भी था, उसका लाभ विदेशियो को पहुँचता था। साम्यवादियों ने सारा काम बहुत ही बे-सरो-सामानी की हालत में शुरू किया था।

इस बीच मे वहाँ दो बार पंच-वार्षिक योजनाये हुई हैं और दोनो ही बहुत अधिक सफल हुई हैं। हर योजना से खास-खास शिल्प और उद्योग बहुत अधिक बढ़ाये गये हैं। अब तीसरी पंच-वार्षिक योजना सन् १९३८ से आरम्भ हुई है। जहाँ पहले कुछ भी नहीं था, वहाँ अब जगह-जगह काग़ज, सेल्यूलायड, कपड़े, रबर, लोहे, दियासलाई, चाय, सिनेमा और मशीनो आदि के बहुत बड़े-बड़े सैकड़ों-हजारों कारखाने खुल गये हैं। जिन उजाड़ देहातों मे जहाँ कभी तेल का दीया भी नही जलता था, वहाँ सैकड़ो कारखाने चल रहे हैं और बिजली की लाखो बत्तियाँ जगमगा रही हैं। खासकर बिजली, मिट्टी का तेल, लोहा और कोयला तो वहाँ इतना ज्यादा बनने और निकलने लगा है कि देश की सारी आवश्यकताये पूरी करने के बाद और देशो मे भी बहुत अधिक मात्रा में भेजा जाने लगा है।

बिजली तैयार करने के देश में सैकड़ों बहुत बड़े-बड़े कारखाने बन गये है जो सैकड़ों-हजारों मील दूर तक बहुत ही सस्ती बिजली पहुँचाते हैं और जिनसे नये-नये कारखाने खोलने और चलाने मे बहुत बड़ी सहायता मिलती है। यदि उन सबका वर्णन किया जाय तो एक बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। इस-लिए हम सिर्फ एक बहुत ही छोटी चीज—दियासलाई—के सम्बन्ध की कुछ बाते बतलाते है। सन् १९१४ मे वहाँ ४॥ अरब दियासलाई की डिबियाँ तैयार होती थी। पर सन् १९३५ में ११ अरब तैयार हुई थी और इस प्रकार दियासलाई तैयार करने मे वह सारी दुनिया में अव्वल हो गया था। बस यही, बल्कि

इससे भी कुछ बढ़कर और सैकड़ो शिल्पो तथा उद्योगों का हाल समझ लेना चाहिए। और फिर इन सब कारखानों में वही कलेक्टिववाली व्यवस्था है। हर जगह के मजदूर और सब कर्मचारी मिलकर अपने कारखाने और अपने रहने आदि की जगहो और खाने-पीने, पहनने और मनोविनोद आदि की अच्छी-से-अच्छी सारी व्यवस्था आप ही कर लेते है।

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ है कि रूस की प्रायः सारी प्रजा परम सुखी और सन्तुष्ट है और आशा नहीं है कि किसी और प्रकार की शासन-प्रणाली और व्यवस्था कभी उन्हे अच्छी लग सकेगी।

जब से रूस मे सोविएट शासन प्रचलित हुआ है, तब से वहाँ के प्रत्येक प्रान्त, प्रत्येक नगर और प्रत्येक गाँव की इतनी अधिक उन्नति हुई है कि मानो एकदम से उनकी काया-पलट ही हो गई है। अब हर जगह पुरानी दरिद्रता की जगह सम्पन्नता और वैभव, कष्ट और दासता की जगह सुख और स्वतन्त्रता और वीरानी की जगह रौनक दिखाई देती है।

वहाँ का साइबेरिया प्रदेश प्राकृतिक सम्पत्ति के विचार से था तो बहुत अधिक सम्पन्न, लेकिन वह सारी सम्पत्ति अछूती पड़ी थी और उसका कुछ भी उपयोग नहीं होता था। उपयोग यही होता था कि जिन लोगों को लम्बी-लम्बी सजायें दी जाती थी, या जिन्हे देश-निकाला मिलता था, वे वहाँ कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए भेज दिये जाते थे। परन्तु सोविएट शासन ने उसे शिल्प और उद्योग का एक बहुत बड़ा केन्द्र बना दिया है। वहाँ बहुत से लोहे के कारखाने बन गये हैं जिनमें से एक-एक कारखाने मे हर साल दस-दस लाख टन लोहा तैयार होता है। उस प्रदेश मे कोयला भी बहुत था, लेकिन बहुत ही कम खाने थीं। सोविएट शासन के आरम्भ में वहाँ मुश्किल से छः-सात

लाख टन कोयला निकलता था। लेकिन अब वहाँ डेढ़ करोड़ टन से भी अधिक कोयला हर साल निकलने लगा है। इस प्रकार वहाँ की यह उपज चौबीस गुनी हो गई है। आशा की जाती है कि अभी इसकी मात्रा और भी बढ़ेगी। इसके सिवा वहाँ अनाज भी खूब पैदा होने लगा है और वहाँ के जंगलो की लकड़ियाँ भी बहुत अधिक माँग मे बाहर जाने लगी है। इसके सिवा वहाँ के निवासी माँस और मक्खन आदि तैयार करके जो बाहर भेजने लगे हैं, वह अलग।

यही हाल सोविएट-संघ के बाकी सभी प्रान्तो का है। सब जगह बिजली की रोशनी है, मोटरे है, रेडियो हैं, सिनेमा और नाटकशालायें हैं, बड़ी-बड़ी मशीने और कल-कारखाने हैं, मजदूरों के रहने के लिए आलीशान मकान है, आमोद-प्रमोद की अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था है, लड़को और लड़कियो के लिए ही नहीं, बल्कि वयस्क स्त्री-पुरुषो के लिए भी पाठशालाये और पुस्तकालय तथा अजायबघर हैं, जच्चेखाने है, अपाहिजो के रहने के स्थान हैं और आजकल की सभ्यता और संस्कृति की उन्नति के लिए जितने प्रकार की प्रयोगशालाये और दूसरी संस्थाये हो सकती हैं, वे सभी हैं। यह सारी उन्नति इधर पन्द्रह-बीस बरसो के अन्दर ही हुई है। रूस सरीखे पिछड़े हुए देश ने इतने थोड़े समय मे जितनी अधिक उन्नति की है, उतनी अधिक उन्नति आजतक इतने थोड़े समय में शायद और किसी ने नहीं की है। सबसे बढ़कर बात यह है कि रूस की सारी प्रजा में एक नवीन जीवन, एक नवीन उत्साह, एक नवीन स्वतंत्रता और एक नवीन देश प्रेम का संचार हो गया है।

रूस की इस सारी उन्नति का एकमात्र रहस्य वहाँ का 'स्तखानोवी आन्दोलन' है। साम्यवाद का यह एक सिद्धान्त है कि श्रम जितना ही अधिक उपजाऊ होगा, समाज भी साम्यवाद के

उतना ही समीप पहुँचेगा। आलस्य और वैयक्तिक स्वार्थ ही साम्यवाद के लिए सबसे अधिक घातक है। इसलिए सोविएट नेताओ ने लोगो के सामने श्रम का महत्त्व रक्खा और उन्हे बतलाया कि जो जितना ही अधिक श्रम करता है, उसका सम्मान और सम्पत्ति भी उतनी ही बढ़ती है। इसके फल-स्वरूप जो लोग खूब जी लगाकर बहुत अधिक काम करते थे, वे उदार्निक या तूफानी कमकर कहलाते थे।

इसके बाद वहाँ स्तखानोफ नामक एक व्यक्ति ने शारीरिक श्रम के साथ अपना बुद्धि-बल भी लगाया और अपनी उपज को कई गुना बढ़ाया। तभी से श्रम की उपज बढ़ानेवाले प्रयत्न को 'स्तखानोवी आन्दोलन' कहते है। इस आन्दोलन के कारण ही रूस की दोनों पंचवार्षिक योजनाये इतनी अधिक सफल हुई हैं, जिसका कभी किसी को स्वप्न मे भी अनुमान नहीं था।

पहली और दूसरी दोनो ही योजनाओं के समय सारे कारखाने, सारे नगर और प्रान्त, और सारे कमकर खूब होड़ लगाकर काम करते थे और हरएक यह चाहता था कि हम अपने काम में अपने दूसरे सहयोगियो से आगे बढ़ जायँ। योजना के अनुसार जिस कारखाने को जितना काम करना चाहिए था, उससे हरएक ने सवाया और ड्योढ़ा काम कर दिखलाया।

१२ दिसम्बर १६३७ को नये विधान के अनुसार सोविएट पार्लमैएट के निर्वाचन के उपलक्ष मे सारे प्रजातन्त्र मे १० दिन के लिए स्तखानोवी होड़ हुई थी। इसका फल यह हुआ कि जिस कारखाने को रोज ५०० मोटरे तैयार करनी थी, वह छः सौ के लगभग मोटरे तैयार करने लगा और जिस कारखाने को १०० टन लोहा तैयार करना होता था, वह १३० और १४० टन

लोहा तैयार करता था। मास्को के मशीन बनाने के एक कारखाने मे एक दिन एक कारीगर ने ७ घन्टे मे ११५२ पुरजे तैयार किये थे और कोई ११०० रूबल कमाये थे। एक और कमकर ने २६ घन्टो में ३३८ घन्टों का काम किया और ८०० रूबल कमाये। एक मिस्त्री ने ५॥ घन्टे मे १६८ गुना काम किया और प्रायः १२०० रूबल कमाये। हर आदमी यही चाहता था कि जल्दी-से-जल्दी, ज्यादा-से-ज्यादा और अच्छे-से-अच्छा काम करके दूसरो के सामने एक आदर्श उपस्थित करे। जहाँ इस तरह होड़ लगाकर सारा देश अधिक-से-अधिक काम करने में लग जाय, उस देश की सम्पत्ति और उन्नति का क्या पूछना है!

अब हम सोविएट-संघ की खेती-बारी के सम्बन्ध मे कुछ बाते बतलाकर यह प्रकरण समाप्त करेंगे। वहाँ खेती तीन प्रकार की होती है। पहले प्रकार में तो वही पुराने ढंग की खेती है, जो संसार मे सब जगह होती है और जिसमें अलग-अलग किसान अपनी-अपनी व्यक्तिगत जमीन मनमाने ढंग से जोतते और बोते हैं। लेकिन दिन-पर-दिन इस तरह के किसानो की संख्या बराबर घटती जाती है; और अब बहुत थोड़े से ऐसे स्थान रह गये हैं जहाँ के लोग व्यक्तिगत रूप से खेती-बारी करते हो। अधिकतर किसानो को कोलखोजी प्रणाली अपनाने के लिए विवश किया जाता है। यह प्रणाली है भी इतनी अच्छी कि बहुत से गाँव स्वयं ही अपने यहाँ यह प्रणाली प्रचलित कर लेते हैं। खेती का दूसरा प्रकार सोवखोज कहलाता है और इसमे स्वयं सरकार की ओर से खेती होती है।

जारशाही के पहले यूरोपीय रूस में २८ हजार जमीदारों के पास इतनी अधिक भूमि थी कि उसे एक करोड़ किसान जोतते-बोते थे। परन्तु क्रान्ति के बाद जमींदारो की सारी

जमींदारी जब्त कर ली गई और उसमे से कुछ तो किसानो को दे दी गई और कुछ मे सरकार स्वयं खेती-बारी करने लगी। अब वहाँ जितने सोवखोज हैं, वे सब मानो अनाज पैदा करने के सरकारी कारखाने ही है। इनमें लोगो को वेतन देकर उनसे काम कराया जाता है।

सन् १९३६ मे सोवखोजो ने जितना अनाज पैदा किया था, उससे सन १९३७ में डेढ़ गुना अधिक अनाज पैदा किया था। वहाँ हर साल सोवखोजो के लिए योजना बनती है और हरएक सोवखोज अपनी योजना से कहीं अधिक अनाज पैदा करने का प्रयत्न करता है। अब वहाँ सोवखोजो और कोलखोजों मे भी बहुत अधिक काम मशीनो से ही होने लगे हैं। मशीनों से काम लेने में वहाँ के कमकर बहुत दक्ष भी हो गये हैं; और स्तखानोवी कमकरो ने मशीनो के काम की मात्रा भी बहुत बढ़ा दी है।

जहाँ-जहाँ सरकार ने सोवखोज स्थापित किये हैं, वहाँ-वहाँ अच्छे खासे शहर बस गये है। उनमे बड़ी-बड़ी सड़के, बगीचे और बीसियों प्रकार की सांस्कृतिक संस्थाये हैं। वहाँ खेती-बारी के सिवा पशु-पालन का काम भी खूब जोरों से होता है और चौपायो की नसल मे खूब तरक्की की जाती है। गौओं, बकरियों, भेड़ों और सूअरो की सख्या भी खूब बढ़ाई जा रही है और उनकी नसल भी सुधारी जा रही है। कई तरह के नये सॉड़ और भेड़े आदि भी पैदा की गई हैं।

खेती का तीसरा प्रकार वह है जो कोलखोजी कहलाता है। इसका आरम्भ सन् १९२८ मे स्टालिन ने किया था। इसमें पहले गाँवो को समझा-बुझाकर नये और वैज्ञानिक ढंग से पंचायती खेती करने के लाभ बतलाये जाते थे और उन्हें इसकी ओर आकृष्ट किया जाता था। जो लोग कोलखोजी या पंचायती

खेती करने के लिए तैयार होते थे, उन्हे सरकार से खाद, हल, बीज और मशीनों आदि की अच्छी सहायता दी जाती थी। इसका परिणाम यह हुआ है कि अब रूस की अधिकांश खेती इसी कोलखोजी सिद्धान्त के अनुसार होने लगी है।

कोलखोज मे गाँव भर के सब लोग मिलकर सहयोग समितिवाले सिद्धान्त के अनुसार पंचायती खेती करते हैं। समिति जिस प्रकार सारे गाँव की और सब बातो की व्यवस्था करती है, उसी प्रकार सारी खेती-बारी की भी व्यवस्था करती है। सौ-डेढ़सौ आदमियो की अलग-अलग टोलियाँ बना दी जाती हैं और उन सबको अलग-अलग काम सौंप दिये जाते हैं। उन्हीं में से कुछ लोग रसोइये, लुहार, बढ़ई, धोबी और ग्वाले आदि बना दिये जाते हैं। गाँव भर की खेती-बारी की सारी उपज और दूसरी समस्त सम्पत्ति पर सारे गाँव के लोगों का समान अधिकार होता है और सबको उनकी योग्यता और आवश्यकता के अनुसार घर बैठे सब चीजें मिलती रहती हैं। हर कोलखोज के साथ एक प्रयोगशाला भी होती है जिसमें बीज, मिट्टी, खाद और उपज आदि की परीक्षा की जाती है और. उनमे सुधार तथा उन्नति का प्रयत्न किया जाता है।

जब मौसम खराब होने को होता है या टिड्डियो अथवा दूसरे कीड़े-मकोड़ों का उत्पात होने को होता है, तब लोग पहले से सचेत कर दिये जाते हैं। समय समय पर इस बात की भी व्यवस्था की जाती है कि एक कोलखोज के किसान दूसरे उन्नत तथा श्रेष्ठ कोलखोजों में जाकर देखें कि वहाँ किस प्रकार उन्नति हुई है और तब वे अपने यहाँ आकर उसी प्रकार की उन्नति करने का प्रयत्न करे। सोवखोजो की तरह कोलखोजों मे भी पशु-पालन आदि होता है। इन सब बातो की पूरी-पूरी व्यवस्था गाँव की सोविएट या पंचायत करती है। जिसे यह

देखना हो कि साम्यवादी गाँव कैसा होता है और उसके काम किस तरह चलाये जाते है, उसे रूस का कोई कोलखोज गाँव देखना चाहिए।

कोलखोज प्रथा ने रूस के गाँवो के जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन कर दिया है। हर कोलखोज में स्कूल, अस्पताल, सांस्कृतिक भवन, वाचनालय, क्रीड़ा-क्षेत्र, प्रसूतिगृह और स्नानागार होते हैं। अक्सर स्थानों में नाट्यशालायें, सरकस और सिनेमा भी होते है। टेलीफोन और डाकखाने भी हैं। रेडियो से खाली तो वहाँ शायद कोई गाँव न होगा। झोपड़ियों की जगह अब कोलखोजी किसान बड़ी-बड़ी इमारतों मे रहते हैं। सभी बातो मे कोलखोजों में आपस में सदा एक होड़-सी लगी रहती है। यही कारण है कि कोलखोजो की संख्या वहाँ दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है और व्यक्तिगत रूप से खेती-बारी करनेवाले गाँव बहुत ही थोड़े रह गये हैं।[1]

: २ :

टर्की की राजनीतिक प्रणाली

सन् १६१८ से अबतक जितने अधिनायक तन्त्र स्थापित हुए है, उनमें से टर्की का अधिनायक तन्त्र दो बातों मे सबसे आगे है। पहली बात तो यह है कि वहाँ पूरी तरह से अधिनायक का ही राज्य है और दूसरं यह कि वहाँ जितने उग्र उपायो से

---

१. जो लोग सोविएट रूस के सम्बन्ध में पूरी बातें जानना चाहते हों, उन्हें श्री राहुल सांकृत्यायन की लिखी और नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित 'सोविएट भूमि' नामक पुस्तक देखनी चाहिए। —रा० चं० वर्मा।

विरोधियो का दमन किया गया है, उतने उग्र उपायो से और कहीं नहीं किया गया है। वास्तव में वहीं ऐसा अधिनायक तन्त्र स्थापित हुआ है जिसमें सारे अधिकार एक ही आदमी ने अपने हाथ मे ले लिये थे। वह व्यक्ति कमाल पाशा था, जिसका कुछ ही दिन पहले देहान्त हुआ है। पर वास्तव मे सारा देश कमाल का इतना अधिक आदर करता था और वह इतना अधिक लोकप्रिय था कि उसे समस्त संघटित विरोधो को जड़मूल से उखाड़ फेंकने और विशुद्ध राष्ट्रीय नीति के अनुसार सब काम करने में पूरी-पूरी सफलता हुई थी। उसने अपनी सारी प्रजा का रहन-सहन और व्यवहार इतना अधिक बदल दिया, जितना एक रूस को छोड़कर शायद और कोई देश नही बदल सका था। इस एक व्यक्ति के अधिनायक तन्त्र ने टर्की मे अपने साथ एक बहुत बड़ा और संघटित राजनीतिक दल तैयार कर लिया था, जो उसके बाद भी ठीक तरह से काम कर रहा है और आशा है कि भविष्य में भी बहुत दिनो तक काम करता रहेगा। अब वस्तुतः एक ही दल सारे देश में है। अब वहाँ कुछ छोटे-मोटे विरोधी दल फिर कुछ तैयार होने लगे हैं, लेकिन ये दल भी ऐसे ही है कि जो नवीन शासन-प्रणाली की आधार-भूत संस्थाओ पर किसी प्रकार का आघात नहीं करना चाहते। परन्तु इस अधिनायक तन्त्र का स्वरूप भी बहुत कुछ प्रतिनिधिसत्तात्मक है और निर्वाचन में देश के बहुत अधिक निवासियो को वोट देने का अधिकार है। सन् १९३१ से वहाँ की स्त्रियो को भी वोट देने का अधिकार मिल गया है। इन्ही निर्वाचको की चुनी हुई वहाँ केवल एक असेम्बली होती है। यही असेम्बली कानून भी बनाती है और राष्ट्रपति भी चुनती है। जिस मुस्तफा कमाल ने सारे टर्की का स्वरूप ही बदल दिया था, वह प्रतिनिधिसत्तात्मक आधार पर बनी हुई असेम्बली का निर्वाचित सभापति और राष्ट्रपति था और उसके मरने पर इसी असेम्बली

ने उसका उत्तराधिकारी भी चुना था। लेकिन वास्तव मे असेम्बली के सब सदस्य एक ही दल के हैं और वह दल स्वयं मुस्तफा कमाल का संघटित किया हुआ है। इटली, जर्मनी और रूस की तरह टर्की मे भी इधर कुछ बरसो से एक ही दल का राज्य है।

मुस्तफ़ा कमाल अपने देश का परित्राण करनेवाला समझा जाता है और इसीलिए सारे देश मे उसका बहुत अधिक आदर था। यही कारण था कि बहुत ही थोड़े समय मे वह राष्ट्रपति के सर्वोच्च पद पर पहुँच गया था और सारे देश का राष्ट्रीय जीवन बिल्कुल नये साँचे मे ढाल सका था। महायुद्ध के बाद टर्की पराजित और दुर्बल तो था ही, पर साथ ही इस बात की भी आशंका हो रही थी कि स्वतन्त्र राज्य के रूप मे कही उसका कोई अस्तित्व ही न रह जायगा। उसकी पुरानी राजधानी कुस्तुन्तुनिया पर मित्र-राज्यो ने अधिकार कर लिया था और वहाँ का सुलतान मित्र-राज्यो के हाथ की कठ-पुतली बन गया था। मित्र-राष्ट्र उसके साम्राज्य के भिन्न-भिन्न अंगों का आपस मे बँटवारा कर रहे थे और नाम के लिए जो प्रदेश टर्की के सुलतान के अधिकार मे छोड़ दिया गया था, उसके अनेक अंशो पर भी मित्र-राष्ट्र अपना प्रभुत्व और प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। लेकिन टर्की के सौभाग्य से मित्र-राष्ट्रो मे ही आपस मे फूट पैदा हो गई थी और वे यह नही निश्चित कर सकते थे कि टर्की-राज्य के किस अंश पर किसका प्रभाव रहे और कौनसा प्रदेश कौन ले। अंग्रेजो, फ्रान्सीसियो और इटैलियनो मे इस सम्बन्ध मे प्रायः झगड़े-बखेड़े होते रहते थे; और इन्ही सब झगड़ो से टर्की को लाभ उठाने का अवसर मिल गया। इस तरह के झगड़े-बखेडे खड़े करने और बढ़ाने का सबसे बड़ा जिम्मेदार ब्रिटेन कहा जाता है। इसका कारण यह है कि अंग्रेजो ने ही ग्रीस को

उभारकर उससे एशिया माइनर पर आक्रमण करा दिया था; और इसी अनुचित आक्रमण का यह परिणाम हुआ था कि सारे टर्की में राष्ट्रीयता की एक ऐसी लहर उठी जो किसी के रोके रुक नही सकी। उस समय टर्की की राष्ट्रीय सेना का सेनापति मुस्तफा कमाल था, जिसने ग्रीको को एशिया माइनर से मारकर भगा दिया और टर्की में नया राज्य स्थापित किया। मित्र-राष्ट्रों को विवश होकर मानना पड़ा कि युद्ध मे तुर्कों की विजय हुई है। सेवरेस की जिस सन् १६२० वाली सन्धि ने तुर्कों पर बहुत ही ऐसी शर्तें और पाबन्दियाँ लगा रक्खी थीं, जो उनके लिए बहुत ही हानिकारक भी थीं और अपमानकारक भी, उसके सन्धिपत्र को इस युद्ध ने रद्दी के टोकरे में डाल दिया था। इसके बाद सन् १६२३ मे लासेन मे जो नई सन्धि हुई थी, उससे टर्की की नई सीमायें निश्चित हुईं और उन सीमाओं के अन्दर उसे पूरी-पूरी स्वतन्त्रता भी मिल गई। तभी से वहाँ राष्ट्रीय एकता के आधार पर एक नवीन राज्य का निर्माण होने लगा।

नवीन टर्की—नवीन टर्की के सम्बन्ध में सबसे पहली ध्यान रखने योग्य बात यह है कि वह पुराने टर्की से बिल्कुल भिन्न है। नवीन टर्की एक राष्ट्रीय राज्य है और उसमे मुख्यतः एक ही प्रकार की जनता बसती है। वहाँ पहले बहुत सी और जातियो के लोग भी बसते थे। लेकिन वे लोग ग्रीस और बलगेरिया को दे दिये गये थे, और उनके बदले मे तुर्क जनता उनसे ले ली गई थी। अब भी वहाँ कई जातियों के थोड़े-थोड़े लोग हैं और इस प्रकार अल्प-संख्यको की कुछ समस्यायें उसके सामने रह गई हैं। लेकिन प्रजा का बहुत बड़ा हिस्सा तुर्क ही है। उदाहरण के लिए एशिया माइनर में थोड़े से कुर्द जाति के लोग रहते हैं और कुस्तुंतुनिया में अधिकतर बहुत सी जातियों की मिली-जुली बस्ती है। लेकिन इन सब अल्प-संख्यक जातियो के रहते

हुए भी अब टर्की एक राष्ट्रीय राज्य हो गया है। लेकिन पुराने टर्की साम्राज्य में कभी यह बात नही होने पाई थी। उसमे बहुत सी जातियो के बहुत से लोग रहते थे और उनके कारण प्रायः उपद्रव भी होते रहते थे। पुराने टर्की मे जो एकता थी, वह जबरदस्ती कायम की गई थी, और उसकी प्रजा मे आन्तरिक एकता का कोई भाव नहीं था। इससे उसे वह एकता नही प्राप्त हुई थी जो किसी साम्राज्य मे होती है, बल्कि वह एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन का केन्द्र था जो राज्य की सीमाओ के बाहर भी दूर-दूर तक काम करता था। टर्की का सुलतान केवल बादशाह या सुलतान ही नही होता था, बल्कि वह सारे इस्लामी जगत का आध्यात्मिक प्रधान या खलीफा भी होता था। लेकिन कमाल पाशा की अधीनता में आकर तुर्की ने इस धार्मिक आधार का समूल नाश कर डाला। पहले सन् १९२२ मे वहाँ के तख्त से सुलतान हटाया गया और फिर सन् १९२४ मे खिलाफत का भी खात्मा कर दिया गया। कमाल ने धार्मिक आधार का नाश कर के केवल लौकिक आधार पर नवीन टर्की का संघटन किया। वहाँ राज्य के तत्वावधान मे सब को केवल लौकिक विषयो की शिक्षा दी जाने लगी और पुराने धार्मिक कानूनो की जगह स्वीटजरलैण्ड की तरह का ऐसा नया कानून बना जिसका आधार विशुद्ध लौकिक था। सन् १९०८ वाली क्रान्ति के बाद भी उस समय के नवयुवक तुर्कों ने एक बार टर्की को पश्चिमी साँचे में ढालने का प्रयत्न किया था, जो कई कारणो से बिल्कुल विफल हुआ था। लेकिन जब कमाल ने यह प्रयत्न फिर से आरम्भ किया, तब इस कारण उसे पूरी सफलता हुई कि उसने सारा नव-निर्माण एक राष्ट्रीय सीमा के अन्दर और बिल्कुल राष्ट्रीय आधारों पर किया था। अब उसके सिर पर उस साम्राज्य का कोई बोझ न रह गया था, जिसकी पहले ठीक तरह से कोई

व्यवस्था ही नहीं हो सकती थी और जिसके कारण अधिकारियों को सदा तंग होना पड़ता था।

युद्ध के बाद कुछ दिनों तक टर्की मे दो सरकारे थी। इनमें से पहली सरकार तो स्वयं सुलतान की थी जिसकी राजधानी कुस्तुंतुनिया में थी। इस सरकार पर मित्र-राष्ट्रों का सैनिक नियन्त्रण था, परन्तु वास्तव मे देश पर इस सरकार का कोई अधिकार नही था। यह नाम-मात्र की सरकार थी। दूसरी सरकार एंगोरा में राष्ट्रीय असेम्बली की थी, जिसके सब काम कमाल की आज्ञा से होते थे। कमाल की अधीनता में पहली असेम्बली की बैठक सन १६१६ में एर्जेरूम में हुई थी। परन्तु वास्तव में नवीन टर्की की स्थापना सन् १६२० मे उस समय हुई थी, जिस समय एंगोरा मे पहली राष्ट्रीय असेम्बली की बैठक हुई थी। इसी असेम्बली के निश्चय के अनुसार कमाल ने ग्रीको के साथ युद्ध किया और उसमे विजय प्राप्त की थी। फिर भी सन् १९२२ तक सुलतान की सरकार जैसे-तैसे बनी रही। लेकिन १६२२ में मित्र-राज्यो ने उस पर से अपना संरक्षण हटा लिया जिससे लाचार होकर सुलतान को देश छोड़कर भागना पड़ा और एंगोरा की सरकार ने आकर कुस्तुंतुनिया पर अधिकार कर लिया। सन् १६२० में ही एंगोरा वाली असेम्बली ने यह घोषणा कर दी थी कि देश का सारा अधिकार हमारे हाथ में है और टर्की राष्ट्र की मालिक इस देश की जनता है। परन्तु सुलतानी शासन का जो नाम-मात्र का अधिकार था, उसका अन्त सन् १६२२ में ही हुआ था। उस समय तक ख़िलाफत का अन्त नहीं हुआ था, और ख़लीफा का पद उस्मानी राज-वंश के एक व्यक्ति को दे दिया गया था जिसे लौकिक विषयों में कोई अधिकार नहीं था। परन्तु सन् १६२४ मे ख़िलाफत का भी अन्त कर दिया गया और वह पद ही तोड़

डाला गया[1]। इससे पहले सन् १६२३ मे ही यह घोषणा कर दी गई थी कि तुर्की मे प्रजातन्त्र स्थापित हो गया है और मुस्तफा कमाल उस प्रजातन्त्र का पहला राष्ट्रपति चुना गया था।

उस समय तक यह निश्चय नहीं हुआ था कि इस नये राज्य की सरकार का क्या स्वरूप होगा। सन् १६२१ मे एंगोरा की राष्ट्रीय असेम्बली ने अपने मूल सिद्धान्तो और अधिकारो आदि के सम्बन्ध मे जो बुनियादी कानून (Fundamental Law) बनाया था, उसमे यह घोषणा कर दी गई थी कि जनता की एक-मात्र प्रतिनिधि यह असेम्बली ही है और यह नियम बना दिया गया था कि इस का चुनाव हर दूसरे वर्ष हुआ करेगा। इस असेम्बली का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचक कालेजो या निर्वाचित संस्थाओ के द्वारा हुआ करता था। निर्वाचन करने का अधिकार केवल पुरुषो को ही दिया गया था, परन्तु उनकी संख्या बहुत अधिक रक्खी गई थी। सन् १६२४ में संघटन-विधान मे जो सुधार हुआ था, उसमे अप्रत्यक्ष निर्वाचन वाली पुरानी प्रणाली तो रहने दी गई थी, परन्तु असेम्बली का कार्य-काल दो वर्ष से बढ़ाकर चार वर्ष कर दिया गया था। आगे चलकर अप्रत्यक्ष निर्वाचन की जगह प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रथा चलाई गई। परन्तु सन् १६३१ तक का निर्वाचन उसी पुरानी अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली से ही हुआ था। कमाल का दल लोकप्रिय दल (Popular Party) कहलाता था और असेम्बली के सभी सदस्य इसी दल से चुने गये थे।

पहले टर्की मे शिक्षा का बहुत ही कम प्रचार था और

---

१. सन् १६३८ के अन्त मे मिस्र के नये बादशाह ने स्वयं ही खलीफा का पद ग्रहण कर लिया था और अब इस्लामी जगत् उसी को अपना खलीफा मानने लगा है—रा० चं० वर्मा।

वहाँ पढ़े-लिखे लोगो की संख्या बहुत ही थोड़ी होती थी। परन्तु अब वहाँ शिक्षा का बहुत अधिक प्रचार हो गया है और देश में शिक्षितो की संख्या बहुत बढ़ गई है। कुछ तो देश में शिक्षितों की संख्या बढ़ जाने के कारण और कुछ राज्य के सब काम एक ही दल के हाथ मे चले जाने के कारण अप्रत्यक्ष निर्वाचन-वाली प्रणाली ही निकम्मी और बेकार हो गई है। सन् १६३० मे स्त्रियों को म्यूनिसिपल निर्वाचन में और सन् १६३१ मे राष्ट्रीय निर्वाचन में वोट देने का अधिकार मिला था। स्थानीय शासन पर केन्द्रीय सरकार का बहुत अधिक नियन्त्रण रक्खा गया है। सारा टर्की ६३ विलायतों या प्रदेशो मे बँटा है और हरएक विलायत को व्यवस्था करने के लिये सरकार की ओर से एक वली नियुक्त होता है। हमारे यहाँ की तहसील की तरह वहाँ जो सबसे छोटा स्थानिक विभाग होता है, वह 'नहिया' कहलाता है और कई नहियो के योग से एक 'करा' होता है जो हमारे यहाँ के जिले के बराबर होता है। और कई करो का एक विलायत या प्रान्त होता है। प्रत्येक करा में राज्य की ओर से नियुक्त एक अधिकारी रहता है। प्रत्येक विलायत और प्रत्येक नहिया में जनता की चुनी हुई एक कौन्सिल भी होती है। परन्तु विलायत की कौन्सिल के हाथ में शासन-सम्बन्धी विशेष अधिकार नहीं होते और वह प्रायः परामर्श देनेवाली संस्था ही होती है।

सन् १६२४ तक तो नये टर्की राज्य को अधिकतर वही सब अव्यवस्थाये दूर करनी पड़ी थी, जो महायुद्ध के बाद से वहाँ उत्पन्न हो गई थीं। मुस्तफा कमाल ने स्वयं ही राष्ट्रीय सेना का संघटन किया था और स्वयं ही उसका संचालन करके ग्रीकों पर विजय प्राप्त की थी, जिससे देश में उसका सम्मान बहुत बढ़ गया था। और इसीलिए सारा देश सदा उसकी आज्ञा के

अनुसार चलने के लिए तैयार रहता था। अपने देशवासियों और अपनी सेना की निष्ठा और भक्ति पर वह पूरा-पूरा भरोसा कर सकता था। पहले तो वह राष्ट्रीय असेम्बली का ही सभापति था; आगे चलकर सन् १६२४ वाले नये संघटन-विधान के अनुसार वह तुर्की प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति भी चुन लिया गया था। सन् १६२३ से ही उसने अपने लोकप्रिय दल का निर्माण भी आरम्भ कर दिया था। इस दल के संघटन का जो विधान बना था, उसके आरम्भ मे ही कहा गया था : "इस दल का उद्देश्य यह रहेगा कि देश का शासन जनता के हित के लिए, स्वयं जनता के ही द्वारा हो और टर्की को उन्नत करके एक आधुनिक राज्य की हैसियत तक पहुँचा दिया जाय।" इसी विधान में यह भी कहा गया था कि धर्म को राजनीति से बिल्कुल अलग रक्खा जाय ; कुछ विशिष्ट वर्गों को अभी तक जो विशेष अधिकार और सुभीते प्राप्त है, उन सबका अन्त कर दिया जाय, सब नागरिको को नागरिकता के समान अधिकार रहे और इन अधिकारो के सम्बन्ध मे स्त्रियो और पुरुषो मे कोई भेद न रहे। इसमे यह भी कहा गया था कि प्रजातन्त्र का आधुनिक रीतियो से संघटन किया जाय और उसका वही वैज्ञानिक और रचनात्मक आधार रक्खा जाय जो सबसे अधिक उन्नत तथा अग्रसर देशो के संघटन का है। इस प्रकार इस दल ने सन् १६२३ मे अपना वह सारा कार्य-क्रम तैयार कर लिया था जिसके अनुसार अबतक टर्की को पाश्चात्य साँचे मे ढाला गया है।

यद्यपि सन् १६२४ मे देश में मुस्तफा कमाल का बहुत अधिक आदर और सम्मान था, वह सबसे बड़ा राष्ट्रीय नेता माना जाता था, और वह अपने देश को उन्नत तथा विकसित करने का अपनी ओर से पूरा-पूरा प्रयत्न कर रहा था, परन्तु

फिर भी तबतक राजनीतिक क्षेत्र में वह अधिनायक या डिक्टेटर की हैसियत तक नहीं पहुँचा था। इसका कारण यह था कि उस समय तक देश में एक और दल भी मौजूद था जिसका उसे मुकाबिला करना पड़ता था। यह वही दल था जिसने सन् १९०८ में टर्की मे राज्य-क्रान्ति की थी। इसमें पुराने ढंग के कुछ-कुछ प्रगतिशील नेता थे जिन्होने देश में एकता और प्रगति की समिति (Committee Of Union And Progress) स्थापित कर रक्खी थी। अपनी युवावस्था में कमाल भी इस आन्दोलन मे बहुत कुछ काम कर चुका था। उन दिनों वह सैलोनिका में एक नवयुवक अफसर के तौर पर काम करता था। लेकिन उस राज्य-क्रान्ति के बाद जिन राजनीतिक नेताओं के हाथ में तुर्की का शासन था, वे लोगो की निगाह से इसलिए बहुत गिर गये थे कि बाल्कन युद्धों मे भी और महायुद्ध मे भी उनकी अधीनता मे देश बराबर परास्त होता आ रहा था और उसकी अनेक प्रकार से हानि हो रही थी। फिर जब महायुद्ध समाप्त हो गया, तब सेबरेस वाली सन्धि के अनुसार टर्की पर जो अपमानजनक शर्तें लादी गई थीं, उन्हें भी उन लोगों ने चुपचाप मान लिया था और वे मित्र-राष्ट्रों की आज्ञा के अनुसार ही सब काम करते थे। इस के सिवा जब मित्र-राष्ट्रो ने कुस्तुंतुनिया पर अधिकार कर लिया था, तब वही लोग वह नाम-मात्र की सरकार चलाते थे, जिसके हाथ मे कोई वास्तविक अधिकार नही था। उनके इन्हीं सब दोषों के कारण उन पर से नवयुवक टर्की का विश्वास और श्रद्धा हट गई थी। कमाल के सभी विरोधी नेता तो नहीं, पर फिर भी उनमे से बहुत से नेता वही थे जो देश की इन सब दुर्दशाओ के कारण थे। परन्तु केवल वही नेता उसके विरोधी नही हुए थे, जो उसके विरुद्ध खड़े होने का साहस नहीं कर सकते थे। कमाल के ये सब विरोधी नेता और प्रतिद्वन्द्वी देश

में पार्लमैण्टरी शासन स्थापित करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि देश मे भिन्न-भिन्न विरोधी और प्रतिद्वन्द्वी दल बने रहे और जिस तरह से पाश्चात्य पार्लमैण्टरी देशो मे शासन के सब काम होते है, उसी तरह तुर्की मे भी हुआ करे। कमाल का बहुत बड़ा मित्र और अनुयायी इस्मत पाशा था, जिसे इन विरोधियो ने कुछ दिनो के लिए प्रधान-मन्त्री के पद से हटा भी दिया था। कमाल चाहता था कि देश मे एक केन्द्रित और व्यवस्थित राज्य स्थापित हो। पर फहती बे के नेतृत्व मे उसके प्रगतिशील विरोधी नेता कुछ दिनो के लिए इतने प्रबल हो गये थे कि उन्होने राज्य का बहुत कुछ अधिकार भी अपने हाथ में ले लिया था। इस पर कमाल ने सारी असेम्बली को अपने अधिकार मे कर लिया और अपने विरोधियो पर यह इल्जाम लगाया कि इन्ही लोगो की नीति के कारण एशिया माइनर मे कुर्दों का विद्रोह हुआ था। इसके बाद उसने बहुत उग्र उपायो से उस विद्रोह का दमन करके फहती बे को प्रधान-मन्त्री के पद से हटा दिया और उस स्थान पर फिर इस्मत पाशा को नियुक्त करके शान्ति-रक्षा के लिए एक नया कानून बनाया। इस नये कानून की सहायता से उसने अपने समस्त विरोधियो का बहुत जल्दी और पूरा-पूरा दमन किया। उसने कुछ नई अदालते बना दी जिनमें विरोधी नेताओं का विचार होता था। उन्ही अदालतो ने कमाल के बहुत से विरोधियो को प्राण-दण्ड की आज्ञा दी और बहुतो को देश से निर्वासित कर दिया। इस प्रकार वह और उसका लोक-प्रिय दल, जिसका संघटन उसने सन् १९२३ मे किया था, दोनों सारे देश के पूरे-पूरे मालिक हो गये और कोई उनका विरोध करनेवाला न रह गया।

कमाल का अधिकार—परन्तु अपनी इस विजय के उपरान्त भी कमाल जान-बूझकर एक अधिनायक या डिक्टेटर

की हैसियत से सब काम करने से बचता रहा; और मरते वक्त तक कभी उसने खुलकर डिक्टेटरी नही की। वह बराबर तुर्की प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति ही बना रहा। हर चार बरस के बाद जब नई राष्ट्रीय असेम्बली चुनी जाती थी, तब वह उसे भी चार वर्षों के लिए राष्ट्रपति चुन लेती थी। वहाँ का विधान ही ऐसा था कि राष्ट्रपति को बार-बार चुने जाने का अधिकार होता था। राष्ट्रपति की हैसियत में उसके अधिकार भी कुछ बहुत अधिक नहीं होते थे। वहाँ राष्ट्रपति को यह अधिकार होता है कि असेम्बली के बनाये हुए किसी क़ानून को अगर वह नापसन्द करे या अच्छा न समझे तो उसे दुबारा विचार करने के लिए असेम्बली के पास भेज सकता है। लेकिन असेम्बली को भी यह अधिकार होता है कि वह वही कानून फिर से पास कर दे। राष्ट्रपति ही प्रधान-मन्त्री की नियुक्ति करता है और प्रधान-मन्त्री को यह अधिकार होता है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार और मन्त्रियो को चुन ले। परन्तु मंत्रि-मण्डल के लिए यह आवश्यक होता है कि असेम्बली का बहुमत उसके पक्ष मे हो। राष्ट्रपति को कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं होता। और यदि वह कोई कानून बनावे भी तो उसके लिए यह आवश्यक होता है कि प्रधान-मन्त्री भी उस पर हस्ताक्षर करे और वह विभाग मन्त्री भी उस पर हस्ताक्षर करे, जिसके विभाग से वह कानून सम्बन्ध रखता है।

लेकिन कमाल केवल राष्ट्रपति ही नहीं था, बल्कि वह सेना का प्रधान सेनापति और लोकप्रिय दल का सभापति भी था। और इन तीनो पदो के एक साथ मिल जाने के कारण ही देश पर उसे इतना अधिक अधिकार प्राप्त हुआ था। परन्तु असल बात यह है कि उसका सारा अधिकार उसके किसी पद के कारण नहीं, बल्कि इसलिए था कि देश उसे बहुत ही सम्मान

की दृष्टि से देखता था और उस पर पूरा-पूरा भरोसा रखता था। और इसीलिए यह आवश्यक नहीं है कि ये सब बातें उसके उत्तराधिकारी को भी प्राप्त हो ही।

टर्की में सुधार—सन् १९२५ मे विजयी होने के बाद से कमाल पाशा टर्की को नये राष्ट्रीय राज्य के साँचे में ढालने का प्रयत्न करने लगा। उसने राज्य के धार्मिक स्वरूप का नाश करके पाश्चात्य यूरोप के ढंग पर केवल लौकिक आधारवाली संस्थायें ही बनाई थी। यहाँ के स्कूलो मे पहले लौकिक विषयों के साथ-ही-साथ धार्मिक विषयो की शिक्षा भी दी जाती थी। परन्तु कमाल ने धार्मिक शिक्षा हटा कर केवल उच्च कोटि की और आधुनिक प्रणाली की लौकिक शिक्षा की ही व्यवस्था की और देश के सब बालको के लिए प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी। इस विषय में उसने एक सबसे बड़ा सुधार यह किया था कि टर्की लिपि को हटाकर उसके स्थान पर रोमन लिपि का देश मे प्रचार किया था। इसके सिवा देश की भाषा भी पहले से बहुत सरल कर दी गई थी। टर्की की पुरानी लिपि और भाषा ऐसी पेचीली थी कि वह शिक्षा के प्रचार मे बहुत बाधक होती थी और इसीलिए उसे इन दोनो में सुधार करना पड़ा था। स्त्रियों को केवल राजनीतिक विषयों मे ही नहीं, बल्कि शिक्षा-सम्बन्धी और सामाजिक बातों में भी पुरुषों के समान ही अधिकार दिये गये थे। अब व्याह-शादियाँ भी वहाँ बिल्कुल पश्चिमी ढंग से होने लगी हैं और उनका वह पुराना निकाही रूप हटा दिया गया है। स्त्रियों का परदा भी दूर कर दिया गया है। यूरोपीय ढंग की पोशाक पहनना सब लोगो के लिए अनिवार्य कर दिया गया है और दाढ़ियाँ भी जबरदस्ती मुँड़वा दी गई हैं। सब जगह पाश्चात्य ढंग की

अदालते कायम हो गई है। बहुत से लोग यह समझते थे कि प्राचीन सांस्कृतिक और धार्मिक विषयो मे कमाल जो जबर्दस्ती कर रहा है, उसके कारण उसका बल बहुत कुछ घट जायगा। लेकिन अपनी मजबूत सरकार की सहायता से उसने बहुत ही सफलतापूर्वक ये सारे सुधार कर डाले थे और इससे उसका सम्मान तथा बल बढ़ा ही था। इन सब सुधारो में उसके लोकप्रिय दल ने भी बहुत ही तत्परतापूर्वक उसकी पूरी-पूरी सहायता की थी। इस मे सन्देह नहीं कि उसके इन सब कार्यों से देश मे कुछ लोग अप्रसन्न और असन्तुष्ट हुए थे। लेकिन जबसे उसने कुर्द विद्रोहियो और प्रगतिशील दल का दमन किया था, तब से फिर किसी को खुलकर उसका विरोध करने का साहस नहीं हुआ।

टर्की की परराष्ट्रीय नीति—कमाल ने अपने देश के लिए जो नई आर्थिक और सार्वराष्ट्रीय नीति ग्रहण की थी, उससे उसे अपने इन प्रयत्नो की सफलता मे बहुत बड़ी सहायता मिली थी। कमाल के समय में तुर्कों ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि न तो हम अपने खोये हुए प्रदेशो पर फिर से अधिकार करने की आकांक्षा ही रखते हैं और न उन पर अधिकार करने की हमारी इच्छा ही है। और इसी नीति के कारण देश मे कमाल की स्थिति बहुत दृढ़ हो गई थी। आगे चलकर तुर्की ने और राष्ट्रो से प्रजा का जो परिवर्त्तन किया था, और विशेषतः एशिया माइनर से बहुत से ग्रीको को निकालकर उनके बदले मे ग्रीक सीमाओ में से जो बहुत से तुर्क ले लिये थे, उसी से यह सिद्ध होता है कि उसने अपना उक्त सिद्धान्त कितने शुद्ध हृदय से स्थिर किया था और वह अपने वादो को कितनी ईमानदारी के साथ पूरा करना चाहता था। फिर अपनी इसी नीति के अनुसार उसने अपने सभी पड़ोसियो से यह समझौता भी कर लिया था

कि न तो हम किसी के प्रदेश पर आक्रमण करेंगे और न कोई हमारे प्रदेश पर आक्रमण करे। और ये सब बाते निश्चित करने के बाद सन् १९३२ मे वह राष्ट्र-संघ का भी सदस्य बन गया था। फिर सन् १९३४ में उसने ग्रीस, युगोस्लेविया और रूमानिया के साथ मिलकर प्रसिद्ध बालकनवाला समझौता किया था। लेकिन यह समझौता कर लेने पर भी उसने कभी बलगेरिया के साथ बिगाड़ नहीं किया। इस नवीन तुर्की प्रजातन्त्र को सबसे पहले सोविएट रूस ने मान्य किया था। अब रूस के साथ इसलिए उसका कोई झगड़ा नहीं रह गया था कि सन् १९२१ में ही उसने एक सन्धि के द्वारा सीमा-सम्बन्धी सब झगड़े तै कर लिये थे। तब से अबतक सोविएट रूस के साथ टर्की की मित्रता ही चली आती है और कभी दोनों मे अनबन नहीं हुई। रूस ने अपने यहाँ जो नई आर्थिक योजना और व्यवस्था की थी, उसका कमाल पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था और इसीलिए वह भी बहुत सी बातो में रूस का ही अनुकरण करता था। और सन् १९३४ के आरम्भ मे तुर्कों ने अपने लिए एक पंच-वार्षिक योजना भी तैयार की थी जिसमे उन्हें बहुत कुछ सफलता भी हुई है।

टर्की की आर्थिक समस्यायें—महायुद्ध के बाद व्यापार की जो दुर्दशा हुई थी, उसके कारण टर्की की भी बहुत कुछ आर्थिक हानि हुई थी। टर्की में पहले बहुत सी ऐसी दस्तकारियाँ होती थीं, जिनका सारे संसार में बहुत आदर होता था। मशीनों की सहायता से नहीं, बल्कि सिर्फ हाथ से तुर्क लोग ऐसी बहुत सी बढ़िया-बढ़िया चीजे तैयार करते थे जिनकी खपत दुनिया भर में हुआ करती थी। परन्तु अब उस तरह की चीजे पाश्चात्य देशो में मशीनो की सहायता से बहुत अधिक मान मे तैयार होने लग गई थीं। इसलिए अब टर्की को अधिकतर अपनी खेती की

पैदावार का ही सहारा रह गया था। वह खेती-बारी से ही बहुत सी चीजें और खासकर तम्बाकू पैदा करके दूसरे देशों को भेजा करता था। लेकिन जब दुनिया भर में इन सब चीजों के दाम बहुत गिर गये, तब तुर्की की आर्थिक परिस्थिति बहुत विकट हो गई। अब टर्की सरकार के सामने यह प्रश्न आया कि खेतिहरों को नष्ट होने से किस प्रकार बचाया जाय? इसके लिए उसने यह व्यवस्था की कि बाहर से आनेवाले माल पर बहुत काफी चुंगी लगा दी और इस चुंगी से उसे जो आमदनी होती थी, उसी से वह उन लोगों की सहायता करती थी, जो देश का बना हुआ माल विदेश भेजते थे। इसके सिवा वहाँ यह भी व्यवस्था हुई थी कि जो कच्चा माल बाहर से मँगाना पड़ता है, वह भी जहाँ तक हो सके, देश मे ही पैदा किया जाय। पहले खासकर चीनी और रुई के लिए उसे दूसरे देशों पर निर्भर रहना पड़ता था। अब टर्की को जितनी चीनी की जरूरत होती है, वह सब वह आप ही पैदा कर लेता है। अब रुई भी वहाँ होने लगी है और बढ़िया रुई तैयार करने के लिए वहाँ बहुत अच्छा प्रयत्न हो रहा है। इसके सिवा ब्रिटेन से मशीनें मँगाकर तुर्क लोग अब बहुत से कपड़े भी खुद ही तैयार करने लगे हैं। स्वयं राज्य की देख-रेख में अब वहाँ के किसानों को यह भी सिखलाया जाता है कि खेती-बारी के कामो में मशीनो का किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए और नये-नये तरीको से किस तरह खेती की पैदावार बढ़ानी चाहिए।

टर्की प्रजा का एक बड़ा अंश इस समय एशिया-माइनर मे है, पर वहाँ अच्छी सड़कें, रेलें और यातायात के दूसरे साधन नहीं हैं। और तुर्कों के सामने अबतक यह भी एक बड़ी समस्या रही है। पुराने टर्की मे तो यूरोपियन ढंग की अच्छी-अच्छी रेले हैं, लेकिन एशिया-माइनर के भीतरी भागो तक रेले पहुँचाने का

अभी तक बहुत ही थोड़ा प्रयत्न हुआ है। इस समय की परिस्थिति यह है कि यूरोप मे तो केवल दस लाख तुर्की प्रजा बसती है और एक करोड़ चालीस लाख तुर्की प्रजा एशिया में है। अब राजधानी भी कुस्तुंतुनिया से हटकर एंगोरा मे आ गई है। अब टर्की मुख्यतः एशियाई राज्य हो गया है, यूरोपीय राज्य नही रह गया है। कमाल पाशा की यही इच्छा थी कि देश का आर्थिक विकास और उन्नति करने के लिए एशियाई प्रदेश के भीतरी भागो मे ऐसे नये बाजार तैयार किये जायँ जिनमे तुर्क खेतिहरो की पैदावार बिक सके। साथ ही वहाँ अच्छी सड़के और रेले भी बन जायँ, जिसमे नई प्रणालियाँ और नये विचार भी दूर-दूर तक पहुँच सके। इसीलिए इधर कुछ दिनो से तुर्की सरकार नई-नई रेलें बनाने पर बहुत जोर देती रही है। अवश्य ही उसे यह सारा काम विदेशी कोठियो और विदेशी इंजीनियरों से कराना पड़ता है, लेकिन फिर भी उसने इसके लिए कभी किसी विदेशी सरकार से कोई ऋण नही लिया है। हाँ, इन सब बातों के कारण देश पर जो भारी बोझ पड़ा है, उससे वहाँ की प्रजा को जीवन-निर्वाह में अवश्य ही कुछ कठिनता हुई है।

इस समय तक इस नीति के बहुत शुभ परिणाम देखने में आये हैं। सन् १६२८ मे टर्की ने जितना माल तैयार किया था, सन् १६३२ में उसका ढाई गुना तैयार किया था। सन् १६२३ मे वहाँ सिर्फ १४४० मील रेल थी, लेकिन सन् १६३२ मे ४००० मील से भी अधिक रेल की लाइने थीं। पहले टर्की मे बहुत सा शिल्प-सम्बन्धी काम विदेशी पूँजीदारो के हाथ मे रहता था, परन्तु अब वह सब तुर्कों के हाथ मे आ गया है। अब टर्की मे जिन विदेशी कम्पनियो को कोई काम करने का ठेका या कारबार करने का अधिकार दिया जाता है, उन्हे अपने डाइरेक्टरो के बोर्ड मे तुर्क डाइरेक्टर भी रखने के लिए विवश

किया जाता है। इसके सिवा उन कम्पनियों को अपने यहाँ तुर्क काम करने वाले भी रखने पड़ते हैं और तुर्की भाषा का भी व्यवहार करना पड़ता है। अब टर्की के समुद्र-तट पर केवल तुर्क जहाज ही चलने पाते हैं और वही एक जगह का माल दूसरी जगह पहुँचाते हैं, जिससे वहाँ जहाजरानी का काम भी खूब बढ़ गया है। अब शिल्प और उद्योग-धन्धों पर सरकार का बहुत कुछ नियन्त्रण रहता है, उन्हें सरकार की तरफ से रुपये-पैसे की मदद दी जाती है और उन्हें तुर्कों के ही हाथ में रक्खा जाता है। तात्पर्य यह कि टर्की की आर्थिक नीति भी और राजनीतिक नीति भी बिल्कुल राष्ट्रीयता की दृष्टि से स्थिर की जाती है। परन्तु यह तुर्की राष्ट्रीयता साम्राज्यवादी ढंग की नहीं है। वह दूसरो पर आक्रमण करके उन्हे अपने अधीन नहीं करना चाहती, बल्कि उसका उद्देश्य केवल आत्म-रक्षा करना ही होता है। अब टर्की केवल यही चाहता है कि हमारे अधिकारों पर दूसरे लोग आक्रमण न करने पावे और हमे चुपचाप शान्तिपूर्वक अपनी उन्नति तथा विकास करने का अवसर मिले।

टर्की की राजनीतिक स्थिति—यदि हम टर्की के एकदलीय राज्य की, जिसका विकास कमाल की देख-रेख में हुआ है, सोविएट रूस के श्रमिक अधिनायक तन्त्र अथवा इटली और जर्मनी के फैसिस्ट अधिनायक तन्त्र के साथ तुलना करें तो सबसे पहले हमें यह पता चलेगा कि केवल टर्की की ही यह नवीन प्रणाली ऐसी है, जिसकी स्थापना शुद्ध राष्ट्रीय विचारो से हुई है—उसके मूल में राष्ट्रीयता की भावनाओ को छोड़कर और किसी प्रकार की भावना नहीं है। इटली और सोविएट संघ ने राष्ट्रीयता को मान्य किया है, परन्तु फिर भी वहाँ उसकी स्थापना सार्वराष्ट्रीय तथा वर्गीय विचारो के आधार पर हुई है। इटली और जर्मनी के फैसिस्टवाद में भी राष्ट्रीयता के बहुत से तत्त्व हैं,

परन्तु फिर भी उन देशो मे उसका उदय और विकास शुद्ध राष्ट्रीय रूप मे नहीं हुआ था, बल्कि साम्यवाद के विरोध के रूप मे हुआ था। परन्तु टर्की में ऐसा कोई साम्यवादी आन्दोलन था ही नही, जिसका उसे मुकाबिला करना पड़ता। मुस्तफा कमाल को तो केवल इसीलिए नेतृत्व और अधिकार प्राप्त हुआ था कि मित्र-राष्ट्र टर्की राज्य के टुकड़े-टुकड़े करके उसे अपने अधीन करना चाहते थे, और कमाल ने केवल राष्ट्रीयता के विचार से मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध विद्रोह किया था। सुलतान को सिर्फ इसलिए तख्त छोड़ना पड़ा था कि वह मित्र-राष्ट्रो के हाथ की कठपुतली हो रहा था। और कमाल इसलिए टर्की का भाग्य-विधाता बना था कि उसने ग्रीको को परास्त किया था और मित्र-राष्ट्रो को सेवरेस वाली सन्धि का परित्याग करने के लिए विवश किया था। कमाल को सारा अधिकार अपने सैनिक बल और राष्ट्रीय सम्मान के कारण प्राप्त हुआ था। टर्की की सारी सेना उसके प्रति पूरी निष्ठा रखती थी और इसीलिए वह अपने उन राजनीतिक विरोधियों का निर्दयतापूर्वक नाश करने में समर्थ हुआ था जो उसके अधिनायक या डिक्टेटर बनने मे बाधा खड़ी करना चाहते थे। अन्त तक उसका सारा बल सेना के आधार पर ही रहा। अब जो कोई टर्की में जाता है, उसे सीमा पार करते समय जिस कठोर सैनिक नियन्त्रण का सामना करना पड़ता है, उसी से उसे पता चल जाता है कि कमाल ने सेना के बल पर ही सारा अधिकार अपने हाथ में लिया था। परन्तु आगे चलकर उसने अपना एक बहुत बड़ा और जबर्दस्त राजनीतिक दल भी बना लिया था। सारे देश मे इस दल के सदस्यो की संख्या भी बहुत अधिक है और उसका संघटन भी बहुत अच्छे ढंग से हुआ है। इसी दल ने अपने अधिनायक के द्वारा सारे देश को अपने राजनीतिक प्रभाव में कर रक्खा है और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का

बहुत बड़ा काम किया है। कमाल ने अपने समस्त विरोधियों का पूरा-पूरा नाश करके बाकी सभी तरह के लोगो को अपनी तरफ मिला लिया था, जिनमे बहुत सी स्त्रियाँ भी थीं। अब टर्की की सारी प्रजा मिलकर अपने देश की पूरी-पूरी आर्थिक तथा सांस्कृतिक उन्नति करना चाहती है और यूरोप की अच्छी तथा लाभदायक संस्थाओं का अपने यहाँ प्रचार करना चाहती है। इसके सिवा यूरोप के ज्ञान से भी वह पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहती है। सभी लोगो को यह मानना पड़ता है कि कमाल की अधीनता मे टर्की ने थोड़े ही दिनो में आश्चर्यजनक उन्नति की और आजकल टर्की मे जैसा अच्छा शासन होता है, वैसा पहले कभी नहीं होता था। यह ठीक है कि मुस्तफा कमाल ने अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए बहुत ही भीषण और ठीक उसी प्रकार के उग्र उपायो का अवलम्बन किया था जिन उपायों से जर्मनी मे हिटलर ने काम लिया था। लेकिन फिर भी इस मे कोई संदेह नहीं कि उसने और उसके दल ने अपनी शक्ति का उपयोग केवल अपने देश-भाइयो की अवस्था सुधारने मे किया है। उसी के प्रयत्नो का यह फल है कि आजकल तुर्क किसान दिन-पर-दिन सभ्य भी होते जा रहे हैं और उन की आर्थिक अवस्था भी बराबर अच्छी होती जा रही है। टर्की किसी जमाने मे "यूरोप का मरीज" कहा जाता था और उसे यूरोप वाले बहुत ही घृणा तथा उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। परन्तु अब वह बात नही रह गई है। अब टर्की स्वस्थ और सबल हो रहा है और पश्चिमी एशिया में बहुत अच्छा प्रजातन्त्र माना जाता है। रूस तथा बालकन पड़ोसियो के साथ उसका बहुत अच्छा और मित्रता का व्यवहार है। उसमें राष्ट्रीयता का भाव तो बहुत प्रबल है, परन्तु उसकी राष्ट्रीयता ऐसी नहीं है जो दूसरे राज्यो के मन मे किसी प्रकार का भय या आतंक उत्पन्न करती हो। और

एक ऐसे देश के लिए ये सब बाते अवश्य ही बहुत अधिक अभिमान की है जो आज से केवल बीस वर्ष पहले कब्र में पैर लटकाये हुए पड़ा था।

वर्तमान यूरोपीय युद्ध मे अभी तक टर्की पूर्ण रूप से तटस्थ बना हुआ है। पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी यह तटस्थता कबतक निभेगी; और न यही कहा जा सकता है कि समय पड़ने पर वह किस पक्ष मे सम्मिलित होगा। तो भी अभी तक उसकी सहानुभूति प्रजातन्त्रात्मक पक्ष के ही साथ है; और जर्मनी ने उसे अपने पक्ष मे मिलाने के जो प्रयत्न किये है, वे विफल ही हुए हैं।

: ३ :

जापान की राजनीतिक प्रणाली

यदि आप किसी अच्छे सन्दर्भ-ग्रन्थ के द्वारा यह जानना चाहेगे कि जापान का संघटन-विधान कैसा है, तो आपको पता चलेगा कि वह पश्चिमी यूरोप के पार्लमेण्टरी राज्यो के संघटन-विधान से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वहाँ एक सम्राट् होता है जो देखने मे बिलकुल वैधानिक रूप से अपने मन्त्री-मंडल के द्वारा शासन करता है। वहाँ दो हाउसो की एक पार्लमेण्ट भी है जिनमें से बड़े हाउस मे तो अधिकतर वंशानुक्रमिक सदस्य है और दूसरे हाउस में सब चुने हुए प्रतिनिधि रहते है। सन् १६२५ से वहाँ के सभी वयस्क पुरुषो को निर्वाचन का अधिकार मिल गया है और निर्वाचन गोटी डालकर होता है। यही पार्लमेण्ट सब कानून बनाती है जिन पर सम्राट् के हस्ताक्षर की आवश्यकता होती है। लोक-प्रतिनिधियो की चेम्बर ठीक ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स की तरह सालाना बजट पास करती है।

मन्त्रियो की अधीनता मे एक सिविल सर्विस भी है और केन्द्रीय नियन्त्रण मे स्थानिक शासन की भी ऐसी व्यवस्था है जो देखने मे बहुत-कुछ फ्रान्स के ढग की जान पड़ती है। वहाँ दो बड़े राजनीतिक दल भी है जो प्राय: बारी-बारी से अधिकारारूढ़ होकर शासन के सब काम अपने हाथ में लेते हैं। इनके सिवा कुछ दूसर छोटे-छोटे दल भी हैं जो समय-समय पर मन्त्री-मंडल मे दिखाई देते हैं। इधर कुछ दिनों से वहाँ का सारा अधिकार एक राष्ट्रीय सरकार के हाथ मे था जिसमे अधिकतर सरकारी अफसर और विशेषत. नौ-सेना विभाग के अफसर थे। पर हाल में वहाँ की सरकार केवल सैनिक अफसरों के हाथ में चली गई है और वहाँ भी बहुत कुछ फैसिस्ट ढंग से शासन-प्रणाली प्रचलित होगई है।

तात्पर्य यह कि पार्लमेण्टरी प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन मे जितने लवाजमे होते है, वे सभी वहाँ दिखाई देते हैं। परन्तु वास्तव मे जापान की राजनीतिक प्रणाली नाम को भी पार्लमेण्टरी देशो की शासन-प्रणाली के समान नहीं है। नाजी जर्मनी या फैसिस्ट इटली की शासन-प्रणाली जितनी पार्लमेण्टरी कही जा सकती है, उससे जापानी शासन-प्रणाली अधिक पार्लमेण्टरी नहीं है। वहाँ का सारा पार्लमेण्टरी शासन केवल नाम का है। और फिर पाश्चात्य उदार मत के सिद्धान्तों से आज-कल के जर्मनी और इटली का शासन जितना दूर है, शायद उससे भी कुछ और ज्यादा दूर आज-कल के जापान का शासन पड़ता है। और इसका कारण यही है कि जापान की संस्थाओ का आधार बिलकुल भिन्न प्रकार की सामाजिक परम्पराओं और विचार-शैलियो पर है। किसी देश की संस्थाओं की केवल बनावट देखने से यह पता नहीं चल सकता कि वहाँ की राजनीतिक प्रणाली का सच्चा स्वरूप क्या है? इसके लिए तो

यह देखना पड़ेगा कि वास्तव मे वे संस्थायें किस प्रकार काम करती है।

लेकिन फिर भी इसमे कोई सन्देह नहीं है कि जापानी प्रणाली बहुत सी बातो मे पाश्चात्य प्रणालियो की नकल है। सन् १८६७ के प्रसिद्ध "पुनरुद्धार" के उपरान्त पाश्चात्य राजनीतिक संस्थाओ का भी ठीक उसी प्रकार अनुकरण किया गया था, जिस प्रकार उसने पाश्चात्य शिल्प और उद्योग-धन्धो, पाश्चात्य महाजनी या बैंकिग, पाश्चात्य विज्ञान और पाश्चात्य अस्त्र-शस्त्रो का अनुकरण किया था। लेकिन शिल्प, महाजनी, विज्ञान और अस्त्र-शस्त्र आदि ऐसी बाते हैं जिनमें पाश्चात्य उपायों का अवलम्बन बिना उन्हींकी तरह काम किये हो ही नहीं सकता; और इन सब बातो मे वह बिलकुल पाश्चात्य देशो के ही रास्ते पर चलता है। लेकिन जापान की पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली सदा केवल नाम के लिए ही पार्लमेण्टरी रही है; और वास्तव मे न तो वहाँ कभी आज तक उत्तरदायी पार्लमेण्टरी सरकार स्थापित हुई ही है और न इस समय ही है।

पार्लमेण्ट और स-शस्त्र शक्तियाँ—जापानी पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली की इस दुर्बलता का कारण केवल यही नहीं है कि संघटन-विधान के अनुसार पार्लमैण्टरी नेताओ को जो अधिकार मिले हैं, उनका वे ठीक तरह से उपयोग नहीं करते; बल्कि इसका कारण यह है कि ठीक तरह से पार्लमैण्टरी सरकार चलाने के लिए जिन अधिकारो की आवश्यकता होती है, वे जान-बूझकर पार्लमैण्टरी नेताओं के हाथ मे नहीं जाने दिये जाते। जापान में ऐसा मन्त्री-मंडल और पार्लमैण्ट तो जरूर है जो सालाना बजट पास करती है, पर वास्तव मे मन्त्री-मंडल पार्लमैण्ट के सामने उत्तरदायी नहीं है, बल्कि स्वयं सम्राट् के सामने उत्तरदायी है। और इसका मतलब यही है कि सारा बजट वही लोग मंजूर

करते हैं जो सदा सम्राट् के आस-पास रहते हैं। पार्लमैण्ट में जिस दल के सदस्यो का बहुमत होता है, प्रायः उसी दल के लोग मन्त्री बनाये जाते हैं। परन्तु यह बात उन मन्त्रियो के सम्बन्ध मे नहीं है जिनके हाथ मे युद्ध-विभाग रहते हैं; क्योकि युद्ध विभाग पार्लमैण्ट के नियंत्रण मे नहीं है, बल्कि स्वयं सम्राट् के अधिकार में है। युद्ध विभाग में जितने आदमी हैं, वे सब सम्राट् के सामने उत्तरदायी हैं और वे लोग अपने खर्च के लिए अपनी माँगे पेश करते है और मन्त्री-मंडल को वे माँगे हर हालत में मंजूर करनी पड़ती है। फिर अधिकारारूढ़ दल के मन्त्री-मंडल मे जल और स्थल सेना विभाग के ऐसे मन्त्री भी जबरदस्ती रक्खे जा सकते हैं, जिन्हे दल के मन्त्री बिलकुल ना-पसन्द करते हों या जिनकी नीति से वे तनिक भी सहमत न हों। पार्लमैण्टरी-नियंत्रण का खास मतलब यही समझा जाता है कि राज्य की "थैली" पर पार्लमैण्ट का अधिकार हो और जापान की थैली पर वहाँ की पार्लमैण्ट का अधिकार शायद सिवा मजाक के और कुछ भी नही है। सेना विभाग को तो जाने दीजिए, स्वयं सिविल सर्विस के सम्बन्ध मे भी पार्लमैण्ट को इस तरह का कोई अधिकार नहीं है। हाँ, उसे इतना अधिकार जरूर है कि जो बजट उसके सामने पेश किया जाय, उसे वह मंजूर करने से इन्कार कर दे। लेकिन उसके इस इन्कार का भी कोई खास मतलब नहीं निकल सकता। पार्लमैण्टरी देशो मे कायदा यह होता है कि जब पार्लमैण्ट बजट नामंजूर कर देती है, तब सब विभागो के खर्चे भी बन्द हो जाते हैं। लेकिन जापान मे ऐसा नहीं होता। वहाँ यह नियम है कि यदि पार्लमैण्ट किसी साल बजट ना-मंजूर कर दे तो पिछले साल का पास किया हुआ बजट ही बराबर तब-तक काम देता रहता है, जब-तक नया बजट मंजूर न हो। इसका मतलब यह है कि अगर पार्लमैण्ट पुराने करो को नामंजूर करना

चाहे तो भी वे कर बराबर लगे ही रहते हैं और उनकी वसूली होती चलती है। फिर कोई ऐसा बन्धन भी नहीं है जो घाटे के दिनों मे सम्राट् को ऋण लेने से रोक सके; इसलिए सेना-विभाग सदा हाथ मे डंडा लिये पार्लमैण्ट के सिर पर भी और नागरिक-मन्त्रियो के सिर पर भी सवार रहता है। सेना-विभाग के प्रधान सदा यही कहते हैं कि हमे स्वतन्त्र रूप से सब काम करने का पूरा अधिकार है; और वे प्रायः मन्त्रियो के विचारो और सिद्धान्तो के विरुद्ध भी अपनी नीति के अनुसार सब काम बराबर मजे मे करते रहते है। अभी कुछ ही बरस पहले जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण करके वहाँ मंचुको का नया राज्य स्थापित किया था और वहाँ नाम-मात्र का एक सम्राट् सिंहासन पर बैठा दिया था। सेना-विभाग ने यह आक्रमण बिना मंत्री-मंडल से पूछे ही कर दिया था।

जापान की राजनीतिक परिस्थिति मे खास बात यही है कि वहाँ के सभी युद्ध-विभाग बिलकुल स्वतन्त्र हैं। इधर कुछ दिनो से जापान की सार्वराष्ट्रीय नीति वहाँ का प्रधान-मन्त्री या पर-राष्ट्र मन्त्री नही स्थिर करता, बल्कि वह युद्ध-मन्त्री करता है जो सेना विभाग का एक बड़ा अधिकारी है। पहले यहाँ जनरल अराकी युद्ध-मन्त्री के पद पर था। पर जब बीमार होने के कारण उसे इस्तीफा देना पड़ा, तब उसने बतला दिया कि मेरे स्थान पर कौन व्यक्ति युद्ध-विभाग का मन्त्री बनाया जाय; और वही व्यक्ति युद्ध-मन्त्री बनाया भी गया। इस प्रकार युद्ध-विभाग के मन्त्री पर मन्त्री-मंडल का कोई नियन्त्रण नही होता। यदि उस पर कोई नियंत्रण है तो वह एक ऐसे सरदार का है जिसका जापान के संघटन-विधान मे कहीं नाम तक नही है। यह वृद्ध राजनीतिज्ञ कहलाता है जो आज-कल प्रिन्स सैओन्जी है। पहले वहाँ कई वृद्ध राजनीतिज्ञ हुआ करते थे। बहुत दिनों से वहाँ जो प्रथा

चली आ रही है, उसके अनुसार सम्राट् के लिए यह आवश्यक होता था कि सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनसे परामर्श ले लिया करे; और बहुधा उसी परामर्श के अनुसार सब काम होते थे। लेकिन अब तो उन वृद्ध राजनीतिज्ञो में से एक मात्र प्रिन्स सैश्रोन्जी ही बच रहा है और वह भी अब सचमुच बहुत वृद्ध हो गया है। वह सेना-विभाग के कार्यों पर बहुत कुछ नियंत्रण रखता है और उन्हे उग्र रूप नहीं धारण करने देता। यदि वह न होता तो बहुत सम्भव था कि जापान की सैनिक नीति अब-तक बहुत उग्र रूप धारण कर लेती। कहा जाता है कि बहुत कुछ उसी के जोर देने पर कुछ दिनों तक जापान राष्ट्र-संघ का सदस्य बना रहा था। अभी कुछ दिन पहले सेना-विभाग के नेताओ ने यह माँग पेश की थी कि पार्लमेण्ट मे मंत्री-मंडल के स्थान पर सरकारी अफसरो का एक ऐसा मंत्री-मंडल रखा जाय जिस का किसी राजनीतिक दल से कोई सम्बन्ध न हो, और जो सेना-विभाग की सब माँगों का बराबर समर्थन करता रहे। लेकिन प्रिन्स सैश्रोन्जी के विरोध के कारण ही उस समय उनकी वह माँग पूरी नहीं हो सकी थी। सेना-विभाग के अधिकारी चाहते थे कि इस समय नाम के लिए जो प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन प्रणाली है, उसका भी अन्त कर दिया जाय और ठीक उसी तरह की फैसिस्ट शासन-प्रणाली स्थापित की जाय जिस तरह की यूरोप के कई देशो में है। डेढ़-दो साल पहले ही उन्होंने अपना यह विचार बहुत से अंशो मे पूरा भी कर लिया था। और जुलाई १९४० मे तो वहाँ पूरी-पूरी फैसिस्ट शासन-प्रणाली प्रचलित हो ही गई है।

पुनरुद्धार और उसके बाद—जापान की राजनीतिक अवस्थाये तब तक अच्छी तरह समझ मे नहीं आ सकती, जब तक यह न जान लिया जाय कि सन् १८६७ मे वहाँ जो प्रसिद्ध पुनरुद्धार हुआ था, उसका स्वरूप क्या था और उसमे क्या-क्या

बातें हुई थीं। वास्तव में इसी पुनरुद्धार के समय से ही जापान का अभ्युदय आरम्भ हुआ था और तभी से उसकी गिनती महाशक्तियों में होने लगी थी। यह बात प्रायः सभी लोग जानते हैं कि पिछली शताब्दी के मध्य तक जापान एक सामंती राज्य (Feudal State) था, जिसमे सारा अधिकार बड़े-बड़े सामंतों और जागीरदारो के हाथ मे था। उस समय वहाँ कुछ ऐसे नियम थे कि कोई विदेशी वहाँ पहुँचने ही नही पाता था और बाहरी जगत के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही था। वहाँ बराबर इसी बात का प्रयत्न किया जाता था कि देश पर किसी प्रकार का विदेशी प्रभाव न पड़ने पावे। लेकिन जब अमेरिका के नौ-सेना विभाग के सेनापति पेरी ने जापानी तटों पर पहुँचकर गोले-बारी की और जापानियो को यह बतलाया कि पाश्चात्य सभ्यता बहुत सी बातो मे तुम्हारी सभ्यता से बहुत बढ़कर है, तब जापानियो को विवश होकर अपने बन्दरगाह सारे संसार के लिए खोल देने पड़े और अपनी पुरानी एकान्ततावाली नीति का परित्याग करना पड़ा। फिर इसके बाद भी कई और घटनाएँ हुईं, जिनसे जापानियो को अच्छी शिक्षा मिली। जापानी लोग प्राय. विदेशी नाविको पर आक्रमण कर बैठते थे और इसलिए ब्रिटिश जहाजों ने भी कई बार जापानी तटो पर गोला-बारी की थी। इन सब बातों से जापानियो ने अच्छी तरह समझ लिया था कि पाश्चात्य देशो का मुक़ाबला करने के लिये हमे भी उन्हीं की तरकीबो से काम लेना चाहिए। फिर जिस तेजी के साथ और जिस पूरी तरह से उन्होने अपना जीवन पाश्चात्य साँचे मे ढाला, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। सब से पहले तो वहाँ एक राजनीतिक क्रांति हुई, जिसका उद्देश्य यह था कि सम्राट् के हाथ से जो राजनीतिक अधिकार निकल कर जागीरदारो और मन्सबदारो या सामंतो के हाथ में चले गये हैं, वे उसे फिर से प्राप्त हों।

१८६७ से सैकड़ों बरस पहले से धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों में सम्राट् ही सर्व-प्रधान अधिकारी माना जाता था। पर वाद में उसके हाथ से सारा राजनीतिक अधिकार निकलकर एक ऐसे वंशानुक्रमिक अधिकारी के हाथ मे चला गया था जो शोगुन कहलाता था। इस शोगुन का एक अलग दरबार होता था, जिसमें आकर जागीरदार और मन्सबदार मुजरा करते थे। स्वयं शोगुन भी एक बहुत बड़ा मन्सबदार था और देश का एक बहुत बड़ा भाग प्रत्यक्ष रूप से उसके शासन और नियंत्रण मे था। देश का बाकी अंश दूसरे बड़े-बड़े जागीरदारों और मन्सबदारों के हाथ मे था। तात्पर्य यह कि वहाँ भी बहुत कुछ उसी प्रकार की व्यवस्था थी, जिस प्रकार की व्यवस्था मध्य युग में यूरोप मे थी। परन्तु सन् १८६७ में बहुत बड़ा आन्दोलन होने पर अन्तिम शोगुन को अपने अधिकार छोड़ देने पड़े और वे सब अधिकार फिर से सम्राट् के हाथ मे चले गये। इस आन्दोलन का एक उद्देश्य यह भी था कि जापान बिलकुल आधुनिक ढंग का राज्य हो जाय और युरोप के देशो की तरह वहाँ भी शिल्प और उद्योग-धन्धे और अस्त्र-शस्त्र हो और यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान का वहाँ भी प्रचार हो।

यहाँ कदाचित् यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जापान मे जो आन्दोलन हुआ था, उसमें क्या-क्या बाते हुई थीं और उसने कब कैसा रूप धारण किया था। शोगुन के अधिकार में जितनी जागीरे थीं, वे सब सरकार के हाथ में आ गईं। फिर थोड़े ही दिन बाद और सब जागीरदारों ने भी अपनी सब जागीरे और सब अधिकार सम्राट् को अर्पित कर दिये। देश के कुछ भागो मे थोड़े से जागीरदारो ने इस नई व्यवस्था के विरुद्ध जो विद्रोह किया था, वह भी पूरी तरह से दबा दिया गया। सभी बड़े-बड़े जागीरदारो के यहाँ कुछ

बड़े-बड़े योद्धा रहते थे जो समूराई कहलाते थे। इन्हीं समूराइयो के योग से वहाँ एक नौकरशाही बन गई जिससे जापान ने एक ऐसे राज्य का रूप धारण किया, जिसमे सारा नियन्त्रण एक केन्द्रित सरकार के हाथ मे आ गया। पुराने सरदारो और समूराइयो को कुछ खास अख्तियार होते थे और उनके साथ कुछ खास रिआयतें की जाती थीं। लेकिन उन लोगो ने भी अपनी वे रिआयतें और वे अधिकार छोड़ दिये जिसके बदले मे उन सब लोगो को पेन्शन देना निश्चित हुआ था। लेकिन इन पेन्शनो के लिए बहुत बड़ी रकम की जरूरत होती थी जिससे नये राज्य को आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। इसलिए सरकार को दूसरे देशों से ऋण लेकर ये पेन्शनें देनी पड़ती थीं। आरम्भ में वहाँ का संघटन मुख्यतः गणतन्त्री था। वहाँ बड़े-बड़े सरदार ही मन्त्रियो के पद पर नियुक्त होते थे, जिनकी सहायता के लिए काउन्सिले भी होती थीं; पर उन काउन्सिलों के सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित नहीं होते थे, बल्कि सम्राट् और दूसरे बड़े अधिकारियो के नियुक्त किये हुए होते थे। फिर इन काउन्सिलो का स्वरूप भी प्रायः बदल दिया जाता था। इसके बाद सन् १८८६ में वहाँ एक नया संघटन-विधान बना जिसका स्वरूप कुछ-कुछ पार्लमैण्टरी था, पर जो वास्तव में बिस्मार्क के जर्मनी के अनुकरण पर था। यही संघटन-विधान वहाँ अबतक चल रहा है। सन् १९२५ मे उसमें सिर्फ एक सुधार हुआ था जिसके अनुसार अब वहाँ के सभी वयस्क पुरुषों को मत देने का अधिकार मिल गया है।

हम ऊपर कह आये है कि समूराई लोग जागीरदारो के साथ रहनेवाले योद्धा होते थे। यदि उनकी हैसियत केवल इतनी ही होती तो आधुनिक जापान का स्वरूप कुछ और ही होता।

जिस समय समूराइयों ने अपने अधिकारों और सुभीतों का परित्याग करके देश को पश्चिमी साँचे में ढालने का काम शुरू किया था, उस समय उनका वह पुराना वर्ग या जाति ज्यों-की-त्यो रह गई थी; और उसके साथ ही उनका वह आचार-विचार भी लगा रह गया था, जिसकी शिक्षा उन्हे बाल्यावस्था से ही मिली थी। उनका यह आचार-शास्त्र बुशीदो कहलाता है। संक्षेप में यह बतलाना प्रायः असम्भव ही है कि बुशीदो क्या है और उसमें कौन-कौन सी बाते हैं। यह एक प्रकार का नैतिक विधान है जो योद्धाओं का ही बनाया हुआ है और उन्हीं के वर्ग या जाति के लिए है। इसमे वे गुण सबसे अधिक श्रेष्ठ बतलाये गये हैं जो योद्धाओ या क्षत्रियों में होते हैं, अथवा होने चाहिएँ। इस विधान के अनुसार वे लोग कुछ घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं जो व्यापार आदि करते हैं। इसमें राज्य के हितों के प्रति आदर्श श्रद्धा और भक्ति रखना आवश्यक होता है। पुनरुद्धार के समय से राज्य के सब अधिकार सम्राट् के हाथ में चले गये हैं, इसलिए वह सारी आदर्श श्रद्धा और भक्ति सम्राट् के प्रति ही रक्खी जाती है। एक और विशेषता यह है कि यद्यपि इन समूराइयों ने देश की सभी सामाजिक बातें पूरी तरह से बदल दी हैं और उन्हे बिलकुल नया स्वरूप दिया है, परन्तु फिर भी अपने वर्ग या जाति की सब बाते इन लोगों ने बिलकुल ज्यों-की-त्यों रक्खी हैं और उनमें कहीं कोई परिवर्तन या सुधार नहीं होने दिया है। अनिवार्य रूप से इसका परिणाम यही होता है कि राज्य की जितनी योद्धा-शक्तियाँ हैं, वे सब समूराइयों के ही अधिकार मे हैं। इसके सिवा शिल्प और व्यापार के साथ तो उनका कोई सम्बन्ध है ही नहीं, सारा सम्बन्ध सिर्फ जमीन के साथ है; इसलिए वे सदा बड़े-बड़े पूँजीदारो को छोड़कर ग़रीब किसानों का ही पक्ष लेते हैं। यही कारण है कि जब कृषि और कृषकों से

सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न उठते हैं, तब जापान के जल और स्थल-सेना के नेता अपनी विकट सैनिक प्रवृत्ति का ही प्रदर्शन करते है और अपने यहाँ की पुरानी सामाजिक व्यवस्था को बदलना नही चाहते। समूराई अफसर और कृपको के नेता सदा फैसिस्ट आन्दोलनो का ही साथ देते हैं और मौका मिलने पर सैनिक अफसर बड़े-बड़े महाजनो और रोजगारियों की हत्या कर डालते हैं और कल-कारखानों के मजदूरो के आन्दोलन हर तरह से दबा देते है। और इन सब बातो का सारा रहस्य यही है कि सारा अधिकार वास्तव मे समूराइयो के ही हाथ मे है।

जापानी संघटन—जापान मे दो हाउसो की एक पार्लमैएट है। ऊपरी या बड़े हाउस मे चार तरह के लोग हैं। पहले तो वे बड़े-बड़े सरदार है जिन्हे हाउस मे बैठने का जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त है और जो उसके आजीवन सदस्य होते हैं। दूसरे, कुछ ऐसे पुश्तैनी सरदार और रईस हैं जो छोटे-बड़े बहुत से सरदारों और रईसो के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। तीसरे, सम्राट् के नियुक्त किये हुए कुछ ऐसे आदमी होते है जो राज्य की बहुत अच्छी और बड़ी-बड़ी सेवाये करते हैं या कर चुके होते हैं। और चौथे वर्ग मे प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र के सबसे अधिक कर देनेवाले पंद्रह अमीरो का चुना हुआ एक प्रतिनिधि होता है। महायुद्ध से पहले प्रशिया में इस प्रकार की निर्वाचन की प्रथा थी और वहीं से जापान ने भी सीधे यह प्रथा ली है। दूसरे या नीचेवाले हाउस मे सन् १९२५ तक कुछ ऐसे ही लोगो के चुने हुए प्रतिनिधि लिये जाते थे, जिनके पास कुछ सम्पत्ति होती थी। परन्तु सन् १९२५ से वहाँ के सभी वयस्क पुरुषों को निर्वाचन में मत देने का अधिकार मिल गया है और उन लोगो का चुनाव गोटी डालकर होता है। यह प्रणाली अब जापान मे इसलिये ठीक तरह से काम करती है कि राज्य की ओर से सब लोगों

को अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जाती है, जिससे देश मे अशिक्षित लोग रह ही नही गये हैं। मंत्री-मण्डल का चुनाव प्रायः इस बात का ध्यान रखकर किया जाता है कि नीचेवाले हाउस में बहुमत उसके पक्ष में रहे। लेकिन सम्राट् जब चाहे, तब मंत्री-मंडल को तोड़ सकता है और छोटे हाउस को भी भंग कर सकता है। और कार्य रूप मे प्रायः यह भी देखने में आता है कि सम्राट् जिस दल के लोगो को मंत्री-मंडल बनाने के लिए बुलाता है, और दलो के मुकाबले मे उस दल का बहुमत भी हो जाता है। ऊपरी या बड़ा हाउस कभी भंग नही किया जा सकता, और उसमे जितनी जगहे निर्वाचन से भरी जाती है, उन जगहो के लिए हर सातवे वर्ष चुनाव होता है। जिन सरदारों को उसमें बैठने का जन्म-सिद्ध अधिकार है, वे तो उसके आजीवन सदस्य होते ही हैं। इसके सिवा जिन्हे सम्राट् अपनी ओर से नियुक्त करता है, वे भी आजीवन सदस्य होते हैं। सभी तरह के क़ानूनी मसौदो के लिए यह आवश्यक है कि वे दोनों हाउसो मे स्वीकृत हो और अन्त में उन्हे सम्राट् की स्वीकृति भी प्राप्त हो। लेकिन बजट पर छोटे हाउस मे ही विचार होता है। इस छोटे हाउस की अवधि चार वर्ष होती है, परंतु कभी-कभी वह बीच में ही भंग कर दिया जाता है।

जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, ये सब पार्लमैण्टरी यंत्र बहुत कुछ दिखावटी ही हैं। ऊपर से देखने में इनका स्वरूप तो बहुत भव्य है, परंतु वास्तव में इनके हाथ मे कोई विशेष अधिकार नही है। जितने सैनिक-विभाग हैं, उन सब पर पार्लमैण्ट का कोई नियंत्रण नहीं है, और न आमदनी और खर्च ही उसके हाथ मे है। फिर जापान मे जो प्रतियोगी राजनीतिक दल हैं, उनमे भी नीति या सिद्धान्त सम्बन्धी कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं होता। इधर हाल के दलो मे दो दल

प्रधान थे जिनमे से एक सेयूकाई कहलाता है और दूसरा मिनसेइटो* लेकिन इन दलों की भी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि इनके अंदर भी बहुत पोल थी और तरह-तरह की खराबियाँ थीं। भिन्न-भिन्न आर्थिक हितों के साथ भी इनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और प्राय. इन्हीं बातों के लिए इनमे प्रतियोगिता चलती रहती थी। राजनीतिक सिद्धांतों के सम्बन्ध मे इनके झगड़े बहुत ही कम होते थे। साधारणत: सेयूकाई दल के सम्बन्ध मे यह माना जाता था कि वह राजनीतिक क्षेत्र मे कृपकों के हितों की रक्षा करनेवाला प्रतिनिधि दल है। इसके सिवा मित्सुई कम्बाइन नाम की एक बहुत बड़ी ऐसी व्यापारिक कम्पनी के साथ भी उसका सम्बन्ध था जो महाजनी या बैंकिंग का भी बहुत बड़ा काम करती है और प्राय: सभी प्रकार के मुख्य-मुख्य शिल्पों और व्यापारों मे भी जिसका बहुत-कुछ हाथ रहता है। और इन सबसे बढ़कर सेयूकाई दल का सम्बन्ध देश के भीतरी व्यापार और अस्त्र-शस्त्र बनानेवाले कारखानों के साथ था। परन्तु मिन्सेइटो दल का सम्बन्ध अधिकतर ऐसे व्यापारियों के साथ था, जो माल तैयार करके विदेशों में बेचने के लिए भेजते हैं; और यही कारण है कि यह दल प्राय: इसी बात पर जोर देता था कि पर-राष्ट्रीय नीति का स्वरूप ऐसा रक्खा जाय जिसमे दूसरे देश नाराज न होने पावें। लेकिन अस्त्र-शस्त्र बनानेवाले कारखानों के साथ इसका भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। अगर सेयूकाई दल मित्सुई कम्बाइन नामक कम्पनी का आश्रित है, तो मिन्सेइटो दल उसकी प्रतिद्वन्द्विनी

---

*पर देश मे फैसिस्ट शासन-प्रणाली प्रचलित हो जाने पर अगस्त १९४० मे इस दल ने भी अपनी बैठक करके उसमें अपने आपको भंग कर डाला है। दूसरा दल अभी मौजूद है और वह शासक दल के साथ है। रा० च० वर्मा।

मित्सुबिशी नाम की कम्पनी पर निर्भर रहता था; और मित्सुबिशी कम्पनी के हाथ मे भी अस्त्र-शस्त्र बनाने के बहुत बड़े-बड़े कारखाने है। इसके सिवा इंजीनियरिंग, जहाज बनाने और कोयले, फौलाद तथा बिजली के सामान बनाने और लड़ाई के जहाज तैयार करने के बहुत से काम भी उसके हाथ मे है। इसलिए इनमे से हर एक दल प्राय. इसी बात का प्रयत्न करता रहता था कि बड़े-बड़े ठेके और काम उसी कम्पनी को मिले, जिस पर हमारा भाग्य निर्भर रहता है। और इन्ही सब बातों के कारण प्रायः ऐसा भंडा-फोड़ होता रहता था, जिससे इन दलो की भी बदनामी होती रहती थी और उन कम्पनियो की भी, जिनके साथ इनका सम्बन्ध था।

इन दोनो ही मुख्य दलो का सम्बन्ध अस्त्र-शस्त्र बनानेवाले कारखानो से था, और इसी लिए सैनिक नेता प्रायः इन दोनो दलो से बिलकुल अलग रहते थे और इस प्रकार राज्य मे उनका एक ऐसा तीसरा दल बन गया था जो सबसे अधिक प्रबल था। जापानी सैनिक नेताओ और उनके दल के सम्बन्ध मे एक मुख्य और महत्त्व की बात यह है कि वे पूँजीदारो के प्रायः बहुत विरोधी रहते हैं। जापान की पुरानी सामाजिक व्यवस्था मे योद्धाओं या क्षत्रियो का स्थान सबसे ऊँचा माना जाता था। वहाँ दूसरे दरजे मे किसान और कारीगर माने जाते थे और व्यापारियो का स्थान सबसे नीचा समझा जाता था। सैनिक वर्ग के लोगो मे यह भाव अभी तक बहुत प्रबल है। यद्यपि सारे देश मे शिल्प और उद्योग-धन्धो का बहुत अधिक विकास और विस्तार हो चुका है, लेकिन फिर भी योद्धाओं के मन मे उनके प्रति जो पुराना घृणा का भाव था, वह अभी तक कम नहीं हुआ है। और बहुत से राष्ट्रो की अपेक्षा जापानियो को अपने राज्य का बहुत अधिक अभिमान है, और उनका यह अभिमान सबसे

बढ़कर इस रूप मे प्रकट होता है कि उनमें सैनिकों के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति होती है। जैसा कि हम ऊपर बतला चुके है, पुरानी योद्धा जाति समूराइयों के लोग, जिनका अभी तक देश पर पूरा-पूरा प्रभुत्व है, व्यापारियो और महाजनों को उसी प्रकार तुच्छ समझते हैं, जिस प्रकार उनके पूर्वज समझा करते थे। और उनका यही भाव राजनीतिज्ञो के सम्बन्ध मे भी है जिन्हे वे व्यापारियो और महाजनो के हाथ की कठ-पुतली समझते हैं। एक तो इसी कारण से और दूसरे इसलिए भी कि बहुत से समूराई बहुत दरिद्र हैं, वे चरम सीमा के सैनिकवादी किसानो के साथ साधारणतः बहुत अधिक सहानुभूति रखते हैं और पूँजीदारो तथा राजनीतिज्ञो के साथ उनकी बहुत ही कम सहानुभूति होती है। इसके सिवा कल-कारखानों मे काम करने वाले उन मजदूरों के साथ भी उनकी थोड़ी-बहुत सहानुभूति होती है जो साम्यवादी विचारों के प्रभाव से दूर रहते हैं। पहले इनमे से कुछ लोग साम्यवादी सिद्धान्तों के भी कुछ समर्थक थे। परन्तु अब वे लोग भी सैनिकतावादियो के साथ मिल गये है और पुराने पार्लमेण्टरी दलों के मुकाबले में उन्होंने अपना एक फैसिस्ट दल भी बना लिया है और आज-कल इसी दल ने वहाँ की सरकार अपने हाथ में कर रक्खी है। वहाँ जो साम्यवादी प्रतिनिधिसत्तावादी दल था, वह जब सन् १६३२ में टूट गया, तब उसके प्रायः आधे सदस्य जाकर उस नये राष्ट्रीय साम्यवादी दल मे मिल गये जिसका कार्य-क्रम बहुत कुछ फैसिस्टो के ढङ्ग का था।

जापान में इधर कुछ दिनो मे जो राजनीतिक विकास हुए हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि वहाँ राजनीतिक दल दिन-पर-दिन बढते जाते थे और प्रायः लोग एक दल छोड़-कर दूसरे दल में मिलते रहते थे। अभी चार-पाँच बरस पहले

की बात है कि वहाँ की पार्लमैण्ट के मिन्सेटो दल में मतभेद हो गया। उस समय इस दल के १४६ सदस्य थे। उनमें से एडाची नाम के एक नेता ने प्रायः तीस सदस्यों को अपने साथ लेकर एक नया फैसिस्ट दल खड़ा कर लिया जो वहाँ की भाषा मे कोकमिन डोमेई कहलाता है। अब यह दल कहता था कि जापान में भी फैसिस्ट ढंग का वैसा ही राज्य होना चाहिए, जिसमें देश भर में केवल एक ही दल हो। उधर दक्षिण पक्ष में रईसों और सरदारों का कोकूहोन्सका नाम का एक और दल था जिसका नेता हिरानुमा था। इसके सिवा वहाँ सेइसान्तो नाम का एक और दल था, जिसका मतलब होता है—"पैदावार करनेवाला दल"; और यह दल भी फैसिस्ट कहा जाता था। यह दल इस दृष्टि से और भी विलक्षण था कि इसमें अधिकतर वही लोग थे जो पहले कम्यूनिस्ट दल मे थे। यह दल कट्टर सैनिकतावादी था और इसका यह विश्वास था कि केवल जापान ही सुदूर पूर्व को पाश्चात्य शक्तियों के चंगुल से छुड़ा सकता है। यह सदा सैनिक नेताओंके साथ मिलकर ही काम करता था। इसके सिवा वहाँ इसे जाइगो गनजिनकाई नाम की उस संस्था से भी बहुत सहायता मिलती थी, जिसमे अधिकतर वही नागरिक थे जो सैनिक शिक्षा प्राप्त कर चुके है और आवश्यकता होते ही तुरन्त सेना में भरती हो सकते थे। लेकिन इसकी आर्थिक नीति बिलकुल वही थी जो वाम पक्ष के दलों की होती है; बल्कि शायद उनसे भी कुछ बढ़ कर थी। यह दल कहता था कि देश में जितने शिल्प और उद्योग-धन्धे हैं, उन सब की व्यवस्था सम्राट् स्वयं ही साम्यवाद के सिद्धान्तों पर करे, क्योंकि सम्राट् पर यह दल पूरी-पूरी निष्ठा और भक्ति रखता था। यह दल यह भी कहता था कि सन् १८६८ में पुनरुद्धार के बाद सम्राट् ने जागीरदारों और मन्सबदारो से जो सब अधिकार ले लिये थे, उसका तर्क-संगत परिणाम

यही होना चाहिए कि देश के सब काम साम्यवाद की नीति और सिद्धान्तों के अनुसार ही हों। जापान में सारे एशिया को एक में मिलाकर जो एक राजनीतिक संघटन करने का आन्दोलन चल रहा है, उसका भी यह बहुत बड़ा पक्षपाती था।

इधर कुछ वर्षों में साम्यवाद भी जापान में बहुत से ऊँच-नीच देख चुका है। महायुद्ध के बाद जापान में और विशेषतः वहाँ के पढ़े-लिखे और समझदारों में साम्यवाद की एक खासी लहर उठी थी और सन् १६२२ के बाद वहाँ कम्यूनिस्ट आन्दोलन ने बहुत जोर पकड़ा था। लेकिन सन् १६२८ के बाद से कम्यूनिस्ट दल का दमन होने लगा और उसके प्रायः तीस हजार सदस्य गिरिफ्तार कर लिये गये। यह दल अब भी वहाँ है, लेकिन खुलकर नहीं, बल्कि अन्दर-ही अन्दर, अपना काम करता है। इधर इसके बहुत से अनुयायी सेईसान्तो दल में मिल गये थे। वहाँ जो सनातनी ढंग का साम्यवादी दल है और जो शाकाई जाइशुटो कहलाता है, उसका अभी तक दमन नहीं हुआ था और उसके कुछ सदस्य पार्लमैण्ट में भी थे। इसके सिवा वाम पक्ष में कृषकों का भी एक दल था, जो रोनोटो कहलाता था। लेकिन अब इसका भी उसी प्रकार दमन कर दिया गया था, जिस प्रकार कम्यूनिस्ट दल का दमन किया गया था। लेकिन अब भी शायद इस दल के कुछ लोग अन्दर ही अन्दर काम कर रहे थे, क्योंकि यह भी गैर-कानूनी ठहरा दिया गया गया था।

जापानी किसान और कमकर—जापान में कृषकों की समस्या बहुत महत्त्व की है। जापान पहाड़ी देश है और उसका बहुत बड़ा अंश ऐसा ही है जिसमें खेती-बारी नहीं हो सकती। जिन भागों में खेती-बारी हो सकती है, वे भाग बहुत ही घने बसे हुए हैं। फिर वहाँ कहीं तो बहुत ज्यादा गरमी पड़ती है और कहीं बहुत ज्यादा सर्दी होती है। जहाँ बहुत ज्यादा सर्दी पड़ती

है, वहाँ बस्ती भी कम है। वहाँ कुछ और लोग जाकर बस जरूर सकते हैं। लेकिन गरम जगहों में रहनेवाले लोगो के लिए ठढी जगहो में जाकर रहना बहुत मुश्किल होता है। जापान ने अभी हाल मे मंचूरिया पर अधिकार कर लिया है और कुछ दूसरे स्थान भी अपने अधिकार मे कर लिये हैं। परन्तु इसी लिए जापानी लोग उन देशो में भी जाकर नही बस सकते। इसके सिवा दूसरे देशो मे जापानियो के जाकर बसने मे एक और कठिनता है। जिन देशो के लोग जापानियो की अपेक्षा बहुत ही थोड़े खर्च मे अपना काम चला लेते है, उन देशो मे जापानी इसलिए जाकर नहीं बस सकते कि वे वहाँ के मूल निवासियों के मुकाबले में कम खर्च मे गुजर नही कर सकते। इन्ही सब बातो का परिणाम यह है कि जापान के मध्यवाले प्रदेशो में तो बस्ती बहुत गुंजान हो गई है और वहाँ किसानो के पास इतनी थोड़ी ज़मीन है कि उसकी पैदावार से उनका किसी तरह गुजारा ही नहीं हो सकता। वहाँ की खास पैदावार चावल है। परन्तु देश के कुछ भागो में गेहूँ और कुछ दूसरे अनाज भी होते है।

जापानी कृषकों की अवस्था सुधारने के लिए इधर कुछ दिनो से इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि वे कच्चा रेशम पैदा करे जो अमेरिकन संयुक्त राज्यों में बहुत अधिक मात्रा मे भेजा जाता है। लेकिन जब से व्यापार मन्दा पड़ा, तब से अमेरिका में रेशम और रेशमी माल की माँग बहुत ही कम हो गई, जिससे जापानी कृषक और भी संकट में पड़ गये। इससे कृषको में बहुत अधिक असन्तोष भी फैल गया। इस असन्तोष की वृद्धि मे उन्हे सैनिक नेताओं से भी कुछ सहायता मिलती थी। उधर जो दो मुख्य राजनीतिक दल थे और जिनका सम्बन्ध बड़े-बड़े व्यापारियो और पूँजीदारो से था, वे कृषको के इन कष्टो से बहुत कुछ लाभ उठाते थे। इससे उन्हे कारखानो

में काम करने के लिए बहुत सस्ते मजदूर मिल जाते थे और इसी लिए वे दूसरे देशों के मुकाबिले में खूब सस्ता माल तैयार करके बाजार भर रहे थे। वहाँ की सरकार ने जापानी सिक्को की दर जान-बूझकर घटा दी थी और देश के अन्दर चीजो की दर बहुत बढ़ा दी है। इन सब बातों के कारण कृषको की कठिनाइयाँ और भी बढ़ गई थी और उनका असन्तोष भी बढ़ता जाता था। कारखानेदारो का इससे यह लाभ होता था कि उन्हे बहुत किफायत मे काम करने के लिए मजदूर मिल जाते थे। खासकर लड़कियाँ तो वहाँ और भी किफायत मे मिलती है। गरीब किसान बहुत ही थोड़ा धन लेकर अपनी लड़कियाँ कारखानो मे काम करने के लिए भेज देते है, जहाँ उन्हे ठेके के तौर पर कई-कई वर्ष तक काम करना पड़ता है।

कारखानो मे काम करनेवाले मजदूरो में भी बहुत कुछ असन्तोष फैला हुआ है। कुछ स्थानो मे तो मजदूरो को कम्यूनिस्ट और साम्यवादी सिद्धान्त बहुत ही पसन्द आते है। लेकिन जापान मे चरम सीमा के जितने आन्दोलन होते हैं, वे सब और विशेषतः वे आन्दोलन जिनका सम्बन्ध सार्वराष्ट्रीयता से होता है, बहुत कड़ाई के साथ दबाये जाते है। जापान मे भी मजदूरो और कमकरो के संघ हैं जो बिलकुल कुचल तो नहीं डाले गये हैं, लेकिन फिर भी जो बहुत कमजोर है। इसके सिवा उनमे आपस का भी बहुत कुछ मत-भेद चलता रहता है। उनमें कई दल हैं जिनके विचार और सिद्धान्त अलग-अलग हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हिन्दोस्तान या चीन की बनिस्बत जापान में मजदूरी की दर कुछ ज्यादा है और मजदूरो तथा कमकरो के संघो की सुदूर पूर्व के और देशो की अपेक्षा जापान मे इसलिए ज्यादा मजबूती से जड़ जमी हुई है कि वहाँ की सारी प्रजा पढ़ी-लिखी है।

जापानी फैसिस्टवाद—यह तो हम बतला ही चुके हैं कि जापान मे जो दो मुख्य राजनीतिक दल थे, उनका कारखानेदारो और पूँजीदारों के दो विरोधी और प्रतियोगी वर्गों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था और वहाँ की योद्धा जाति से इन दोनों ही दलों का घोर विरोध था। इसके सिवा वहाँ का सैनिक व्यय दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है और उसकी पूर्त्ति के लिए नये-नये करो की सम्भावना बनी ही रहती है। जिन लोगो के हाथ मे राज्य का अधिकार है, उन्हे सदा यह भय भी बना रहता है कि कहीं पार्लमैण्ट हमारा बजट नामंजूर न कर दे। इसलिए जापान मे बराबर एक तरह की खींचा-तानी और वैमनस्य चलता ही रहता है। शासको की ओर से प्रायः कहा जाता है कि राजनीतिज्ञ लोग देश की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और वैभव का बहुत कम ध्यान रखते हैं; और जिन व्यापारियो के साथ उनका सम्बन्ध है, उन्हींको और अधिक सम्पन्न बनाने की ओर ही उनका सबसे अधिक ध्यान रहता है। सैनिक दल मे जो नवयुवक अफसर और दूसरे पक्षपाती हैं, उनमे देश-हित का भाव बहुत ही प्रबल है। ऐसे लोगो ने अपनी गुप्त सभाये बना रक्खी है जिनके सदस्यो को इस बात की दृढ़ प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि राज्य के हित के लिए हम जो बात अच्छी समझेंगे, उसे पूरा करने मे अपनी तरफ से कोई कसर न करेंगे। जिन बड़े-बड़े नेताओ की नीति इन्हे पसन्द नहीं है, उनकी अब ये लोग हत्यायें भी करने लगे हैं। जापान के जन-साधारण मे से हारा ही ऐसा पहला व्यक्ति था, जो प्रधान मन्त्री के पद पर पहुँच सका था। यह सेयूकाई दल का नेता भी था। लेकिन सन् १९२१ मे इसकी भी हत्या कर डाली गई थी। जापान में यसुदा बंक बहुत बड़ा समझा जाता है। उसके प्रेसिडेन्ट को भी इन लोगो ने उसी समय के लगभग मार डाला था। हामागुची नाम का एक और प्रधान मन्त्री सन् १९३० में

एक चरम राष्ट्रवादी के द्वारा सख्त घायल हुआ था। और सन् १६३२ में इनूकाई नाम के एक तीसरे मन्त्री को सामरिकतावादियो ने मार डाला था। इस प्रकार सैनिक दल के पक्षपाती प्रायः बड़े-बड़े राजनीतिज्ञो की हत्याये करते रहते हैं। अदालतो मे इस तरह के हत्यारो के साथ यह कहकर बहुत रिआयत की जाती है और उन्हे बहुत हलका दंड दिया जाता है कि ये लोग देश-हित के भावो से प्रेरित होकर ये सब काम करते है। नौ-सेना विभाग के जिन अफसरो ने इनूकाई की हत्या की थी, उन्हे पहले तो अदालत से सजाएँ मिल गई थीं। लेकिन सैनिकतावाद के पक्षपातियो के प्रार्थना करने पर सम्राट् ने उन्हे बिलकुल क्षमा कर दिया था। और जब वे लोग जेलखाने से छूटकर आये थे, तब बाहर उनका बहुत अधिक सम्मान तथा अभ्यर्थना की गई थी।

यूरोप के अधिनायक-तन्त्री देशो मे जो बहुत सी खास बाते हैं, वे सब बहुत से अंशो मे जापान में भी पहले से ही मौजूद हैं। स्थानिक शासन वहाँ बहुत अधिक केन्द्रित है और थोड़े से ऐसे अफसरो के नियन्त्रण मे है, जिन्हे केन्द्रीय अधिकारी नियुक्त करते है; और स्थानिक निर्वाचित काउन्सिलो का स्थानिक व्यवस्था पर बहुत ही कम नियंत्रण रहता है। केन्द्रीय शासन-प्रणाली भी बिलकुल नौकर-शाही के हाथ मे है; और सब काम थोड़े से बड़े-बड़े अधिकारियो की आज्ञा और इच्छा के अनुसार ही होते हैं। राष्ट्रीय जीवन के सभी अंगो पर उनका पूरा नियंत्रण रहता है और खुलकर कोई इनकी अलोचना नहीं करने पाता। यदि किसी अच्छे पद पर कोई ऐसा आदमी होता है जो केन्द्रीय अधिकारियो की आँखो मे खटकता है, तो वह तुरन्त उस पद से हटा दिया जाता है। देश के शिल्प और व्यापार को यद्यपि राज्य की ओर से अच्छा प्रोत्साहन मिलता है, पर साथ ही केन्द्रीय

अधिकारियों का उन पर पूरा-पूरा नियंत्रण भी रहता है। बहुत से नये कामों में सरकार की तरफ से अच्छी आर्थिक सहायता भी मिलती है। जापान के रोजगारियों को जब दूसरे देशों के रोजगारियों से काम पड़ता है, तब उन्हें इस बात का पूरा विश्वास रहता है कि किसी तरह का झगड़ा होने पर राज्य के अधिकारी हर तरह से हमारी मदद करेंगे। अवसर पड़ने पर जापानी व्यापारी राज्य के अफसरों की सब आज्ञायें भी चुपचाप मान लेते हैं। वहाँ की मुद्रा-प्रणाली और व्यापारिक सम्बन्धों पर भी राज्य का पूरा नियंत्रण रहता है और इनका संचालन ऐसे ढंग से किया जाता है कि राष्ट्र के हितों पर किसी तरह का आघात न होने पावे। देश के आर्थिक जीवन के सभी अंगों का और यहाँ तक कि खेती-बारी का भी ऐसे ढंग से संघटन किया गया है कि मालूम होता है कि सभी आर्थिक विषयों की पहले से ही योजना कर रक्खी गई थी। एक रूस को छोड़कर और किसी दूसरे देश में इस प्रकार की पूर्व-निश्चित आर्थिक योजना नहीं दिखाई देती।

युरोपीय देशों के फैसिस्टवाद में यद्यपि अधिकतर सैनिकता की ही बाते दिखाई देती हैं, लेकिन फिर भी वहाँ के सारे फैसिस्ट आन्दोलन नागरिकों के ही चलाये हुए हैं। लेकिन जापान मे चरम सीमा की राष्ट्रीयता की जितनी शक्तियाँ हैं, वे सब सेनाओं और सैनिकों पर ही आश्रित हैं; और उस पर पार्लमेण्ट का किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। इधर कुछ दिनो से वहाँ के नागरिकों मे एक प्रकार का ऐसा फैसिस्टवाद चलने लगा है जो कृषकों के कष्ट दूर करने के लिये बहुत बड़ी-बड़ी माँगें पेश करता है। लेकिन इसे सैनिक तथा नौ-सैनिक नेताओ की जितनी सहायता मिल सकती है, उतना ही यह आन्दोलन सफल हो सकता है। आरम्भ में जिस समय जापान पाश्चात्य देशों की राजनीतिक संस्थाओं का अनुकरण करने लगा था, उस समय

कुछ दिनो के लिए योद्धा जाति का प्रभुत्व और प्रभाव कुछ कम हो गया था। लेकिन अब वहाँ केवल पार्लमैण्टरी शासन प्रणाली ही आदर्श और अनुकरणीय नहीं समझी जाती और इसी लिए अब वहाँ फिर से योद्धा जाति की फैसिस्ट शासन-प्रणाली स्थापित हो गई है। जब जापानियो ने पाश्चात्य संस्थाओ को अपनाना शुरू किया था, उन्होने फ्रान्स, ग्रेट ब्रिटेन या अमेरिकन संयुक्त राज्यो का आदर्श अपने सामने नहीं रक्खा था, बल्कि जर्मनी को ही अपने आदर्श के रूप मे चुना था; और बहुत सी बातो मे उसी का अनुकरण किया था। और इसका कारण यही था कि जर्मन प्रणाली में सब बातों मे थोड़े से बड़े-बड़े अधिकारियों की आज्ञाओ का ही पालन होता था; और वहाँ और देशों की अपेक्षा सैनिक वर्ग का सम्मान भी अधिक था और उसके हाथ मे अधिकार भी बहुत था। लेकिन जब सन् १९१८ में जर्मनी महायुद्ध मे हार गया और यूरोप मे पार्लमैण्टरी प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन-प्रणाली की विजय होती हुई दिखाई दी, तब जापान मे भी कुछ दिनो के लिए पार्लमैण्टरी शासन-प्रणाली का विकास होने लगा था। लेकिन जब रूसमे कम्यूनिस्टों के पैर अच्छी तरह जम गये, तब फिर लोगो के विचार कुछ-कुछ बदलने लगे। जिस समय यूरोप के राज्य रूस के कम्यूनिस्टों को दबाना चाहते थे, उस समय जापान ने भी साइबेरिया में घुसने का प्रयत्न किया था। लेकिन न तो पाश्चात्य शक्तियों को ही और न जापान को ही अपने इन प्रयत्नों मे कोई सफलता हुई थी; और इसी लिए जापानियो के विचार पार्लमैण्टरी शासन-प्रणाली की ओर से और भी हटने लग गये थे। फिर जब साम्यवादियो के हाथ में पड़कर रूस उन्नति करने लगा, तब फिर लोग साम्यवादी विचारों और सिद्धान्तों की ओर प्रवृत्त होने लग गये थे। और ऐसा जान पड़ता था कि जापान के पढे-

लिखे और समझदार भी अपने यहाँ साम्यवादी राज्य स्थापित करना चाहते है। लेकिन जब यह बात स्पष्ट हो गई कि बोल्शेविक लोग सारे संसार मे जो साम्यवादी राज्य-क्रान्ति करना चाहते थे, वह अब नहीं होगी, या कम-से-कम अभी कुछ दिनो तक इस प्रयत्न के सफल होने की कोई आशा नहीं है, तब फिर लोगो का मत बदलने लगा। ठीक उसी समय जापान मे कम्यूनिस्ट दलो का दमन भी आरम्भ हो गया था। आगे चलकर जब फैसिस्टवाद यूरोप मे एक नया आदर्श खड़ा करने लगा, तब जापानी भी उसी को अच्छा समझने लगे और वहाँ बहुत से लोग उसके पक्ष मे हो गये। और जब दूसरे महायुद्ध में जर्मनी ने फ्रान्स को पूरी तरह से दबा लिया, तब तो जापान मे फैसिस्ट राज्य स्थापित ही हो गया।

जब जर्मनी मे फैसिस्ट शासन-प्रणाली स्थापित हुई, तब भी अधिकांश जापानी इसी प्रणाली के भक्त हो गये थे। बात यह है कि जर्मनी के साथ जापान का कई बातो में बहुत मेल मिलता है। जापानी भी यही चाहते हैं कि राष्ट्र के हितो पर सबसे अधिक ध्यान रहे; और यदि आवश्यकता हो तो व्यक्तिगत हित उसके सामने दबाये भी जा सके। और ठीक यही बात जर्मनी में भी है। यो तो जापानी पहले से ही कई बातों में जर्मनी की नकल करते आते थे। पर जब जापानियो ने देखा कि फैसिस्ट शासन-प्रणाली की अधीनता मे ही आकर जर्मनी अपने वे सब कलंक और अपमान धोने मे समर्थ हुआ है, जो पिछले युद्ध मे पराजित होने के उपरान्त उसके सिर पड़े थे, तब वे इस प्रणाली के और भी अधिक समर्थक हो गये थे। इसी लिए स्वभावतः जापान और जर्मनी बहुत सी बातो में मिल कर एक हो गये थे। दोनो ने ही प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन-प्रणाली की सभी बाते अपने यहाँ से हटा दीं और दोनों ने ही राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों को मानने से

इन्कार कर दिया। दोनो ने ही यह घोषणा कर दी कि रूस की कम्यूनिस्ट शासन-प्रणाली बहुत ही हानिकारक है और संसार से उसका उठ जाना ही अच्छा है। दोनो ने ही यह घोषणा कर दी कि हमारा उद्देश्य अपनी राष्ट्रीयता का विस्तार करना है और हम अपनी-अपनी सभ्यता का प्रसार करना चाहते हैं। उधर जर्मनी ने यह निश्चय कर लिया कि हम यूरोप में रूसी "बबरता" का किसी तरह प्रचार नहीं होने देगे; और इधर जापान ने यह निश्चय कर लिया कि न तो हम एशिया में रूसी मार्क्स-भक्तों को हाथ-पैर फैलाने देगे और न यहाँ पाश्चात्य पूँजीदारो का प्रभुत्व रहने देगे। जापान जो अब चारो तरफ हाथ-पैर फैलाना चाहता है, उसका कारण भी यही है कि उसकी राष्ट्रीयता मे सैनिकता भी मिली हुई है। और साथ ही वह यह भी कहता है कि हम एशिया के लोगों को पाश्चात्य पूँजीदार लुटेरों के हाथ से छुड़ाना चाहते हैं।

जापानियों की प्रसार-वृत्ति—जापानियो में चारो ओर अपना प्रसार करने की वृत्ति और अनेक कारणों से तो है ही, पर साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनकी इस प्रवृत्ति का एक कारण उनकी आन्तरिक आर्थिक कठिनाइयाँ भी है। जापानी राष्ट्रीयता के नेताओ की आकांक्षाएँ तो बहुत बड़ी-बड़ी हैं, परन्तु उन आकांक्षाओ को देखते हुए उनके देश मे कृषि और शिल्प दोनों के लिए ही बहुत थोड़ा क्षेत्र है। जापान पहाड़ी देश है और उसका बहुत बड़ा भाग ऐसा ही है, जिसमे खेती-बारी बिलकुल नहीं हो सकती। जिन जगहों मे खेती-बारी हो सकती है, वहाँ आबादी बहुत ही घनी होती जा रही है। कुछ जगहें ऐसी भी हैं, जहाँ की आबादी कम है और वहाँ खेती-बारी भी हो सकती है। लेकिन वहाँ की आबहवा कुछ ऐसी है कि लोग वहाँ जाकर

बसना नहीं चाहते। जिन जगहो मे ज्यादा आबादी है और जो आबहवा के खयाल से रहने के लायक हैं, उनमें किसानो की हालत इसलिए बहुत खराब है कि उनके पास जमीन इतनी थोड़ी है कि उससे उनका अच्छी तरह गुजारा हो ही नहीं सकता। जापान शिल्प और उद्योग-धन्धो मे भी बहुत आगे बढ़ना चाहता है, लेकिन इनके लिए जिस कच्चे माल की जरूरत होती है, वह उस देश में पैदा हो ही नही सकता, क्योकि वहाँ जमीन की कमी है। वहाँ जो नदियाँ और जल-प्रपात आदि हैं, उनसे काफी बिजली पैदा की जाती है, जिसका शिल्प आदि में अच्छा उपयोग होता है। जापान मे कोयला भी है, लेकिन वह अच्छा नहीं होता, घटिया दरजे का होता है। लोहा और रुई आदि वहाँ बिल्कुल नहीं होती। हाँ, रेशम बहुत काफी होता है। इसी लिए जापान यह चाहता है कि कुछ ऐसे देश हमारे हाथ में आवे, जिनमे हमारी दिन-पर-दिन बढती हुई प्रजा जाकर बस सके और खेती-बारी कर सके और जहाँ से हमें काफी कच्चा माल भी मिल सके। अभी हाल में मंचूको पर इसीलिए उसने अप्रत्यक्ष रूप से अधिकार किया है कि वहाँ बहुत सा कच्चा माल पैदा हो सकता है और वहाँ के निवासी अपने देश के इन साधनो का कोई विशेष उपयोग नही करते। इसके सिवा मंगोलिया के भीतरी भाग और उत्तरी चीन मे भी बहुत-सा कच्चा माल तैयार हो सकता है; और इन दोनों प्रदेशो पर मंचूको की ओर से सहज में आक्रमण और अधिकार किया जा सकता है। लेकिन इन प्रदेशों मे जापानी खेतिहरों की बस्ती बसना इसलिए कठिन है कि वहाँ जापानियों को ऐसे लोगों का मुकाबला करना पड़ेगा' जो उनकी अपेक्षा बहुत ही थोड़े में अपना निर्वाह कर सकते हैं। कनाडा और अमेरिकन संयुक्त राज्य अपने यहाँ जापानियो को बसने नहीं देते; इसलिए जापानी चाहते

हैं कि बोरनियो, न्यू गिनी, आस्ट्रेलिया के उत्तरी प्रदेश और डच ईस्ट इन्डीज मे हम अपने उपनिवेश स्थापित करे। और वर्त्तमान युद्ध के समय वे अपनी यही इच्छा पूरी करने के फेर मे पड़े हुए है।

लेकिन जिन देशो में जापान अपने उपनिवेश स्थापित करना चाहता है, उनपर पहले से ही यूरोप के अनेक साम्राज्यो ने अधिकार कर रक्खा है। ग्रेट ब्रिटेन कहता है कि हम आस्ट्रेलिया में गोरो के सिवा और किसी को वसने ही नही देगे; और आस्ट्रेलिया के सब राजनीतिज्ञ भी उसकी इसी नीति के पूरे-पूरे समर्थक हैं। अगर ईस्ट इंडीज मे जापान अपना सिक्का जमाना चाहता था, तो अँगरेज और डच दोनों ही मिलकर उसका घोर विरोध करते थे। हालैंड पर जर्मनी का अधिकार हो जाने पर वह ईस्ट इंडीज पर अधिकार करने के लिए और भी उतावला हो रहा है। अभी अरबो रुपये खर्च करके ब्रिटेन ने सिंघापुर मे अपने सैनिक बेड़ो का जो बहुत बड़ा अड्डा बनाया है, उसमें उद्देश्य यही है कि भारतीय महासागर और ईस्ट इंडीज के टापुओ पर जापानियों का राजनीतिक प्रभाव न पड़ सके। फिलिप्पाइन्स[1] आज-कल अमेरिकन साम्राज्य के अन्तर्गत है। लेकिन सम्भव है कि आगे चलकर उस पर जापान का सहज में

१ फिलिप्पाइन बहुत से छोटे-छोटे टापुओं का एक समूह है, जो बोरिनियो के उत्तर मे चीन और इंडोचीन के पास है। यह सन् १८९८ में स्पेन से अमेरिकन संयुक्त राज्यों को मिला था। यहाँ चावल, नारियल चीनी, सन, तम्बाकू और इसी तरह की और कई चीजों की बहुत अच्छी पैदावार होती है, और यहाँ के जंगलों में इमारती लकड़ी भी बहुत अधिक होती है। रा० च० वर्मा।

अधिकार हो सके। अमेरिकन संयुक्त राज्यो ने निश्चय कर लिया है कि फिलिपाइन्स को स्वराज्य दे दिया जाय; और इसका कारण यही है कि वह अमेरिका से बहुत दूर और चीन के बिलकुल पास पड़ता है; और अमेरिका इतनी दूर से उसकी रक्षा की यथेष्ट व्यवस्था नही कर सकता। लेकिन अगर यह मान भी लिया जाय कि फिलिपाइन्स पर से अमेरिका अपना प्रभाव हटा लेगा और वह जापान के हाथ मे चला जायगा, तो भी जापान का उससे इसलिए कोई बहुत ज्यादा काम नही निकलेगा कि उसकी आवश्यकताओं और आकांक्षाओ को देखते हुए वह कोई चीज ही नही है। जापान के नेता समस्त सुदूर पूर्व पर अधिकार करना चाहते हैं; और इसीलिए उन्होने कोरिया तथा फारमोसा पर अधिकार कर लिया है; और अब वे चाहते हैं कि चाहे समग्र चीन पर और चाहे उसके भिन्न-भिन्न खंडों पर हमारा राजनीतिक अधिकार हो जाय[1] परन्तु वे यह नहीं चाहते कि पूर्वी एशिया में रूस का किसी प्रकार का अधिकार हो या वहाँ रूस के कम्यूनिस्ट सिद्धान्तो और शासन-प्रणाली का प्रचार हो; इसी लिए वे मंगोलिया और मंचूको पर भी अपना पूरा-पूरा अधिकार रखना चाहते है। रूसियों के मार्ग मे बाधा खड़ी करने के लिए वे अपनी

---

१ अपने इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए जापान ने प्रायः तीन वर्षों से चीन के साथ बिना घोषणा किये युद्ध छेड रक्खा है। इस युद्ध में जापान के अबतक पाँच-छः लाख आदमी मरे और घायल हुए हैं और ७५ करोड पाउण्ड खर्च हो चुके हैं। इस बीच में उसने चीन के दो-तिहाई प्रदेश पर अधिकार कर लिया है और वहाँ के १६ लाख सैनिकों को मारा और घायल किया है और वहाँ के शिल्प तथा व्यापार का बुरी तरह से नाश किया है। अब चीनियों ने जापानियों के साथ जमकर युद्ध करना कम कर दिया है और वे अधिकतर लुक-छिपकर

सैनिक शक्तियो का उपयोग करने में नहीं चूकते। वे यह भी समझते हैं कि रूस अपनी पूर्वी सीमा पर इसलिए जल्दी लड़ाई छेड़ने के लिए तैयार नहीं होगा कि उसे डर रहेगा कि कहीं पश्चिमी सीमा पर जर्मनी का आक्रमण न हो जाय। वर्त्तमान युद्ध में फ्रांस पर जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित हो जाने पर वह फ्रांसीसी इंडो-चाइना पर भी अधिकार जमाने का प्रयत्न करने लगा है। ईस्टइंडियन टापुओं और भारत मे अभी वह अपना केवल व्यापार ही बढ़ा रहा है और दूसरे देशो के मुकाबले मे बहुत सस्ता माल बेच रहा है। इन देशो में वह अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने से पहले व्यापारिक आधार दृढ़ करना चाहता है। जापानी नेताओ का यह विश्वास है कि ज्योंही हम इन देशो से यूरोपियन व्यापारियों को हटावेंगे, त्योंही हम इन देशों पर से यूरोपियनों का राजनीतिक प्रभाव भी हटा देंगे, और जब सुदूर पूर्व का सारा व्यापार हमारे हाथ में आ जायगा, तब एशियावाले स्वभावतः हमारा नेतृत्व मान लेंगे और यूरोपियन साम्राज्यवाद के विरुद्ध हम जो युद्ध छेड़ेंगे, उसमे ये एशियावाले हमारा साथ देंगे।

जापान की सब संस्थाये ऐसी ही हैं, जिनमें सारा अधिकार एक ही स्थान में केन्द्रित है और सभी जगह वहाँ सैनिक उपायों

जापानी छावनियों पर छापा मारने लगे हैं। इधर उन्होंने जापानियों से अपने कुछ नगर तथा प्रदेश वापस भी ले लिये हैं, जिससे जापान आज-कल और भी परेशान हो रहा है। इसके सिवा जबसे चीन-जापान युद्ध छिड़ा है, तबसे जापान का विदेशी व्यापार भी प्रायः एक-चौथाई कम हो गया है। और इसका कारण यह है कि कुछ लोगों ने जापानी माल का बहिष्कार आरम्भ कर दिया है। अभी यह युद्ध चल ही रहा है।

—रा० च० वर्मा।

का अवलम्बन किया जाता है। उधर बाहर की ओर जापान अपना खूब प्रसार करना चाहता है और अपना साम्राज्य खूब बढ़ाना चाहता है। जापान की संस्थाये उसके इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए परम उपयुक्त भी हैं। लेकिन जापान में अन्दर-ही-अन्दर कुछ ऐसी शक्तियाँ भी काम कर रही हैं जो इस उपद्रवी और आक्रमणकारी नीति के विरुद्ध है। यद्यपि इधर कुछ दिनो मे शिल्प और व्यापार मे जापान ने बहुत अधिक उन्नति कर ली है, लेकिन फिर भी वह एक बहुत ही गरीब देश है। वहाँ ज्यादा आबादी ऐसे ही गरीब किसानो की है जो बहुत ही थोड़े में बड़ी कठिनता से जीवन-निर्वाह करते हैं। चारो तरफ हाथ पैर फैलाने के लिए जिस पूँजी की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है, उसका जापान मे बहुत अभाव है। तरह-तरह की सैनिक शक्तियाँ रखने और अस्त्र-शस्त्र बढ़ाने में भी उसे बहुत अधिक खर्च करना पड़ता है। साथ ही वहाँ की सरकार को गरीब खेतिहरो की भी कई तरह से सहायता करनी पड़ती है और शिल्प तथा उद्योग-धन्धो के विकास के लिए लोगो को खासी पूँजी भी देनी पड़ती है। वहाँ का सैनिक व्यय बहुत बढ़ा-चढ़ा है और अर्थ-विभाग के मन्त्रियो को उस व्यय को रोकने या कम करने का कोई अधिकार नहीं होता; और इसलिए उन्हे आय और व्यय बराबर रखने के लिए सदा बहुत चिन्तित रहना रड़ता है; और कभी-कभी भगीरथ-परिश्रम करना पड़ता है। यदि कभी वे सैनिक माँगों का किसी प्रकार का विरोध करते है तो प्रायः उन्हे अपने प्राणो तक से हाथ धोना पड़ता है। अर्थ-शास्त्र के ज्ञाता सदा यही कहा करते हैं कि जिस देश का व्यय उसकी आय की अपेक्षा बहुत अधिक होता है, उसका सर्वनाश हो जाता है। लेकिन अगर यह बात ठीक होती तो शायद जापान का अबसे बहुत दिन पहले ही सर्वनाश हो चुका होता। इधर जबसे उसने चीन के साथ युद्ध

छेड़ा है, तबसे प्रायः लोग यही कहते हैं कि इससे जापान का आर्थिक सर्वनाश होना अवश्यम्भावी है। लेकिन फिर भी अभी तक जापान जैसे-तैसे चला ही चलता है। शायद आरम्भ मे उसने यही आशा की थी कि जिस तरह इटली ने सहज मे एबीसीनिया पर अधिकार कर लिया है, उसी प्रकार चीन पर सहज मे हमारा भी अधिकार हो जायगा। और उसने दो-तिहाई चीन पर अधिकार कर भी लिया है। लेकिन चीन के जिन प्रदेशो पर उसने अधिकार कर लिया है, उन प्रदेशो में भी वह अभी तक शान्ति और अपना शासन स्थापित करने मे समर्थ नहीं हुआ है। चीनवाले जापानियो को किसी तरह दम नहीं लेने देते। और कई चीनी नेताओ का यह दृढ़ विश्वास है कि हम जापान को अन्त मे परास्त करके ही छोड़ेगे और इस युद्ध के कारण जापान का सर्वनाश हुए बिना न रहेगा। जो हो, लेकिन इसमे सन्देह नहीं कि चीन-जापान युद्ध ने जापान को सभी प्रकार से बहुत त्रस्त कर रक्खा है। वह चीन को अपने वश मे करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा रहा है, परन्तु अभीतक उसे इस प्रयत्न मे सफलता नही हो रही है। इस समय जो परिस्थिति चल रही है, उसे देखते हुए यदि दो-चार या छः महीने मे जापान निराश होकर चीन के साथ लड़ना छोड़ दे तो किसी को आश्चर्य न होगा।

कहा जाता है कि इस युद्ध का जापान की आर्थिक अवस्था पर बहुत ही बुरा प्रभाव पड़ रहा है। वहाँ बेकारी भी दिन पर दिन बढती जा रही है और चीजो का भाव भी बहुत बढता जा रहा है। बेकारी तो इसलिए बढ़ रही है कि वहाँ सब चीजों के उत्पादन का व्यय घटाने का इतना अधिक प्रयत्न किया जाता है और कारखानों आदि की मजदूरी इतनी घटाई जा रही है कि उससे लोगो का काम किसी तरह नहीं चलता; और कई

विभागों में लोगो ने सिर्फ इसीलिए काम करना छोड़ दिया है कि उन्हें उचित से बहुत ही कम वेतन मिलता है। चीजों के भाव पर नियन्त्रण रखने के लिए सरकार ने जो कानून बनाये हैं, उनका लोग ठीक तरह से पालन नहीं कर रहे हैं, जिससे पुलिस का काम बहुत बढ़ गया है। चीन की लड़ाई मे सरकार को जो व्यय करना पड़ रहा है और साथ ही नये-नये कल-कारखाने खोलने के लिए उसे जो धन चाहिए, उसके लिए सरकार ने कई वर्ष पहले कहा था कि जापानी जनता को ४७ करोड़ पाउंड की बचत करनी चाहिए। वहाँ जनता जो धन बचाती है, वह सब सरकार उससे ऋण के रूप में ले लेती है। दो वर्ष पहले की जनता की बचत ४२ करोड़ पाउंड के लगभग हुई थी। गत वर्ष सरकार चाहती थी कि जनता ६० करोड़ पाउंड बचाकर सरकारी कागज खरीदे। कुछ लोगो का विश्वास है कि इस वर्ष शायद उसे इससे भी अधिक धन की आवश्यकता होगी। वहाँ कुछ ऐसे उपाय भी सोचे जा रहे हैं जिनसे सारे देश के वयस्क पुरुष जबरदस्ती सेना में भर्ती किये जा सके और देश की पैदावार बढ़ाकर युद्ध के काम मे लगाई जा सके। कुछ दिनों तक वहाँ यह भी आन्दोलन चल रहा था कि इस प्रकार के कार्यों के लिए प्रधान मन्त्री के अधिकार और भी बढाये जायँ। अबतक वहाँ के अधिकांश कारखानों मे मजदूरों को १५ और १६ घन्टे तक नित्य काम करना पड़ता था। लेकिन देश की बढ़ती हुई बेकारी कम करने के लिए यह व्यवस्था की गई कि कुछ विभागो में वयस्क पुरुपो से दिन मे केवल १२ घन्टे काम लिया जाय। उसका राष्ट्रीय ऋण भी दिन-पर-दिन बहुत बढ़ता जा रहा है। १३ मार्च १६३६ को यह ऋण एक अरब पाउंड से भी ऊपर था।

यद्यपि इधर बहुत दिनो से जापान अपनी आमदनी से बहुत

ज्यादा खर्च करता चला आ रहा है, तो भी वह साथ ही साथ अपना उत्पादन और व्यापार भी बराबर बढ़ाता आता है। उसके उत्पादन और व्यापार की यह उन्नति ऐसे समय में हुई है जब कि और-और देशों का व्यापार बराबर घटता रहा है और उनके यहाँ बेकारी बढ़ती रही है। लेकिन जापान ने व्यापारिक क्षेत्र में जो यह उन्नति की है, उसका उसे कहीं अधिक मूल्य देना पड़ा है;और विशेषतः अपने यहाँ के गरीबों और किसानों के हितों का बहुत कुछ बलिदान करना पड़ा है। यों तो जापान के सैनिक नेता जब चाहते हैं, तब वहाँ के राजनीतिज्ञों को दबा लेते हैं और उनसे जो चाहते हैं, वह करा लेते हैं। लेकिन फिर भी अपने देश के गरीब कृषकों की अवस्था देखते हुए उन्हें अपने बहुत से हौसले मन ही मन दबा रखने पड़ते हैं और जहाँतक हो सकता है, अपने बहुत से काम सस्ते में ही निपटाने पड़ते हैं। चीन के शांघाई नामक बन्दरगाह पर एक बार जापान ने जो चढ़ाई की थी, उसमें उसका खर्च तो बहुत अधिक पड़ गया था, पर उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ था। अब वह फिर शांघाई से यूरोपियनों को निकालने के प्रयत्न में लगा है और अंग्रेजों ने तो वहाँ से अपनी सेना हटा भी ली है (अगस्त १९४०)। हाँ, मंचूको को अपने अधिकार में लाने के लिए उसने जो कुछ व्यय किया था, उससे अवश्य ही उसे कुछ आर्थिक लाभ हुआ है। रूस-जापान युद्ध में जापान का जितना धन व्यय हुआ था, उससे सत्तर गुना अधिक वह अबतक इधर तीन वर्षों में चीन के साथ लड़ने में खर्च कर चुका है। यद्यपि शांघाईवाली चढ़ाई में जापान को जो कटु अनुभव हुआ था, उसके कारण बहुत दिनों तक जापानियों को चीन के साथ लड़ने की जल्दी हिम्मत नहीं होती थी, लेकिन इधर यूरोप की राजनीतिक परिस्थिति डाँवाडोल देखकर ही उसने यह सोचा था कि यह समय चीन पर से यूरोपियनों का

प्रभुत्व हटाने के लिए बहुत अनुकूल है; और इसीलिए उसने इस बार फिर चीन पर चढ़ाई की है। और यदि इस बार भी उसे वैसा ही अनुभव हुआ, जैसा कि शांघाईवाली चढ़ाई के समय हुआ था, तो सम्भव है कि बहुत दिनो के लिए उसे ऐसी शिक्षा मिल जाय कि वह इस प्रकार का दुस्साहस न कर सके।

सन् १९१५ मे जिस समय यूरोप मे भीषण युद्ध छिड़ा हुआ था, उस समय जापान ने चीन के सामने अपनी इक्कीस जबरदस्त मॉंगे पेश की थी। लेकिन उस समय अमेरिका के संयुक्त राज्यो ने ही बीच मे पड़कर किसी तरह चीन का छुटकारा कराया था। सन् १९१८ के बाद जापान ने जब साइबेरिया की तरफ बढने का प्रयत्न किया था, तब भी अमेरिकन संयुक्त राज्यो ने ही उसका वह प्रयत्न विफल किया था। लेकिन उसके बाद जो बहुत दिनों तक जापान चुपचाप रहा और उसने चीन पर आक्रमण करने का कोई प्रयत्न नही किया था, उसका कारण यह नहीं था कि उसे संयुक्त राज्यो का अथवा राष्ट्र-संघ का कोई भय था, बल्कि उसका कारण यही था कि उसकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं थी। और इस बार भी कदाचित् उसने अपनी दिन-पर-दिन गिरती हुई आर्थिक अवस्था सुधारने के ही मुख्य उद्देश्य से चीन पर चढ़ाई की थी। जापानी नेताओ के मन में सारे एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की जो इच्छा है, वह बराबर स्पष्ट शब्दो मे प्रकट करते रहते हैं। अप्रैल सन् १९३४ मे तो जापान की एक सरकारी घोषणा तक मे यह बात स्पष्ट रूप से कही गई थी और मानो पाश्चात्य शक्तियो को साफ तौर पर चुनौती ही दी गई थी। इस घोषणा में जापान ने साफ-साफ कह दिया था कि सुदूर पूर्व के सम्बन्ध मे हमारा भी वही मनरोवाला-सिद्धान्त है। हम यहाँ किसी विदेशी शक्ति को कोई हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहते। उसमें यह भी

कहा गया था कि चीन के मामले मे यूरोपियन शक्तियो को नही पड़ना चाहिए और चीन को ऐसी कोई सहायता नही देनी चाहिए, जिससे वह जापान का आक्रमण रोकने में समर्थ हो सके। जब अमेरिका मे घरेलू झगड़े बहुत बढ़ गये और अमेरिका अपनी आर्थिक अवस्था के सुधार मे लग गया, तब जापान को अपना दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने का और भी अच्छा अवसर मिल गया और वह एक-एक करके चीन के कुछ अंशो पर अधिकार करने लगा। पहले तो उसने मंचूको पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार मे किया और वहाँ एक ऐसे व्यक्ति को सिहासन पर बैठाया, जो हर तरह से उसके हाथ का खिलौना था; और तब वहाँ की सारी आर्थिक व्यवस्था अपने हाथ में कर ली। और जब वहाँ उसके पैर अच्छी तरह जम गये, तब उसने उत्तरी चीन पर आक्रमण कर दिया। और इधर तीन बरसो से चीन के साथ उसकी जबरदस्त लडाई चल रही है। इस बीच में उसने चीन के बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार तो कर लिया है, लेकिन उस हिस्से मे भी चीनवाले अभीतक बराबर लड़ ही रहे है।

इस दूसरे यूरोपीय युद्ध के समय उसन अंगरेजों पर दबाव डालकर बरमा के रास्ते चीन मे माल पहुँचना बन्द कर दिया; और हारे हुए फ्रांस पर दबाव डालकर चीन के लिए इंडो-चीन वाला रास्ता भी बन्द कर दिया। अब चीन को जो थोड़ी-बहुत सामग्री मिलती है, वह प्रायः सोवियट रूस से ही मिलती है।

जापान के नेताओ को वहाँ की प्रजा पर इतना अधिक विश्वास है कि वे समझते हैं कि जिस समय राज्य पर कोई संकट आवेगा या कोई विकट परिस्थिति उत्पन्न होगी, तब प्रजा अपने सभी स्वार्थों का त्याग करके केवल वही काम करेगी, जिससे देश का हित होगा। पाश्चात्य देशों के निवासियो और

विशेषतः ब्रिटिश तथा फ्रान्सीसी व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादियों को यह बात बहुत ही विलक्षण मालूम होती है और यह जल्दी उनकी समझ में ही नहीं आता कि कोई प्रजा अपने देश के हित के लिए इतना अधिक स्वार्थ-त्याग किस प्रकार कर सकती है। परंतु वास्तव मे ऐसा जान पड़ता है कि संसार का कोई काम ऐसा नहीं हो सकता, जो जापानी प्रजा अपने देश और राज्य के लिए न कर सकती हो। इसी प्रकार की कुछ भावना नाजी जर्मनी में भी देखने मे आती है और मुसोलिनी भी बराबर इटेलियनों को अपना भाव इसी प्रकार का रखने की शिक्षा देता रहता है। युरोप के अन्यान्य देशों के निवासियो मे किसी विशेष अवसर पर तो कुछ समय के लिये अवश्य ही ऐसा भाव उत्पन्न हो जाता है, लेकिन फिर भी वहाँ के अधिकांश निवासियो को यही जान पड़ता है कि इस प्रकार का भाव बिलकुल कृत्रिम होता है, वह मनुष्यों पर जबरदस्ती लादा जाता है और उसका प्रभाव चिर-स्थायी नहीं होता। परन्तु जापान में बहुत दिनों से जो प्रबल राष्ट्रीयता की परम्परा चली आई है, उससे देश-हित के लिए चरम सीमा के स्वार्थ-त्याग का भाव जापानियों मे बिलकुल स्वाभाविक हो गया है। उसमें कभी-कभी जो न्यूनता हो जाती है, वह केवल इसी लिए कि वे बीच-बीच मे पाश्चात्य देशो की पार्लमैण्टरी शासन-प्रणाली और उसके विधानो का अनुकरण करने लगते हैं। लेकिन जब से वहाँ फैसिस्ट विचारों की प्रबलता होने लगी थी, तब से जापानियो में फिर वही स्वार्थ-त्यागवाला भाव प्रबल होने लग गया था। अब तो उसका स्वरूप इसलिए और भी अधिक उग्र तथा भयंकर हो गया है कि उसकी आर्थिक और सैनिक व्यवस्था भी बिलकुल पाश्चात्य ढंग की हो गई है। और आशा है कि अब वहाँ फैसिस्ट शासन स्थापित हो जाने पर वह स्वरूप और भी उग्र तथा भयंकर हो जायगा।

युरोप में फैसिस्टवाद का उग्र और भीषण स्वरूप उसी समय देखने में आता है, जब कि वहाँ कोई विकट संकट सामने दिखाई देता है; और यदि उस संकट की विकटता कम हो जाय, तो वह स्वार्थ-त्यागवाला भाव भी ढीला पड़ जाता है। लेकिन जापानी फैसिस्टवाद के लिए इस प्रकार के किसी उत्तेजक तत्त्व की कोई आवश्यकता नहीं होती। और अब तो जापान ने स्वयं ही अनेक प्रकार के नये वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र बना लिये हैं और इसीलिए वह पहले-पहल युरोपियन सभ्यता का मुकाबला ऐसी निर्भीकता से करने के लिए तैयार हो गया है जो सिर्फ जंगली फिरकों मे ही देखने मे आती है।

लेकिन फिर भी इसमें एक बात संतोष की अवश्य है। जापान के निकटतम पड़ोसी चीन और रूस हैं। और इनमे से कोई ऐसा मुलायम चारा नहीं है, जिसे जापान सहज में हजम कर सके। जापानियों के आक्रमण करने पर चीनी सेनाये तितर-बितर हो सकती हैं, लेकिन फिर भी चीन इतना बड़ा और विस्तृत देश है कि जापान अपनी सारी सैनिक शक्ति लगाकर भी न तो उसे पद-दलित ही कर सकता है और न उसकी व्यवस्था तथा संघटन ही कर सकता है। रूस के लिए कुछ कठिनता अवश्य है और वह सहज में अपने सुदूर पूर्व के प्रदेशों की रक्षा नहीं कर सकता। अब मंचूको भी जापानियो के हाथ मे चला गया है, इसलिए वह केवल आकाश-मार्ग से ही आक्रमण करके व्लैडिवोस्टक और आमूर रेल्वे की रक्षा कर सकता है। और नहीं तो साधारणतः सैनिक दृष्टि से वह किसी प्रकार उनकी रक्षा नहीं कर सकता। सन् १६१५ और १६१६ मे भी जापान ने साइबेरिया में घुसने का प्रयत्न किया था और उन दिनो सोविएट रूस आज-कल की अपेक्षा बहुत ही दुर्बल था। लेकिन उस समय भी रूसियों ने साइबेरिया मे जापान की दाल नहीं गलने दी थी।

फिर अब तो वह उस समय की अपेक्षा कहीं अधिक बलवान् हो गया है। ऐसी अवस्था में भला कैसे यह आशा की जा सकती है कि जापान सहज मे साइबेरिया में प्रवेश कर सकेगा? इस समय तो पाश्चात्य देशों के लिए सन्तोष की यही बात है कि जापान के साधन बहुत ही परिमित हैं और उसे बहुत दिनों तक मंचूको के आस-पास के प्रदेशों तथा चीन में ही उलझे रहना पड़ेगा। जो प्रदेश पाश्चात्य शक्तियों के हाथ मे हैं, उन पर न तो जापान को आक्रमण करने का साहस ही होगा और न जल्दी अवसर ही मिलेगा। रूस भी इस समय अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने और अपने देश का राजनीतिक संघटन करने मे लगा हुआ है। पर साथ ही वह अपने पूर्वी पड़ोसी की ओर से निश्चिन्त नहीं है। रूस चाहता है कि चीन में भी सोविएट शासन-प्रणाली स्थापित हो जाय और तब रूस से चीन तक हर जगह सोविएट-प्रणाली ही दिखाई दे। पर जापान चाहता है कि वह इन दोनो के बीच में पड़नेवाले मंगोलिया पर अधिकार कर ले और चीन में सोविएट शासन-प्रणाली न प्रचलित होने पावे। एक ओर तो रूस सारे एशिया पर अपना प्रभाव डालना चाहता है और दूसरी ओर जापान। लेकिन रूस को यह आशा है कि जब जापान अपने वित्ते के बाहर कोई काम करना चाहेगा, तब सभी पूर्वी देश उसकी नीति के घोर विरोधी हो जायँगे और तब हमारा काम आप-से-आप हो जायगा। लेकिन पाश्चात्य शक्तियों की बात कुछ और ही है। एशिया में चाहे रूस का प्रभुत्व स्थापित हो और चाहे जापान का, हर हालत में युरोप की शक्तियो के बल और प्रतिष्ठा का नाश होगा। जिस समय जापान ने मंचूरिया पर अधिकार किया था, उस समय राष्ट्र संघ की शक्तियाँ केवल इसी लिए चुप रह गई थीं कि वे मंचूरिया का रूस के हाथ में जाने की अपेक्षा जापान के हाथ मे जाना कहीं

अच्छा समझती थी। जापान तो अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुसार एशिया के देशो पर अपना प्रभुत्व ही स्थापित करना चाहता है और उन्हे सदा अधीनता मे ही रखना चाहता है; परन्तु रूस चाहता है कि एशिया के सब देश पराधीनता से छूट कर बिलकुल स्वतन्त्र हो जायँ; और इसीलिए जापान के मनमानी करने पर युरोपीय शक्तियाँ चुप रहती हैं।

: ४ :

चीन की राजनीतिक प्रणाली

चीन की राजनीतिक प्रणाली का जिक्र करना एक तरह से इसलिए गलत है कि पाश्चात्य दृष्टि से चीन मे किसी प्रकार की राजनीतिक प्रणाली है ही नहीं। वहाँ एक सरकार तो नानकिंग मे च्यांग-काई-शेक के अधिकार मे है। और वहाँ चीनी प्रजातन्त्र का एक संघटन-विधान भी है। इस प्रजातन्त्र में सरकार का एक राष्ट्रपति होता है, राज-मंत्रियो का एक मंत्री-मंडल होता है। लेजिस्लेटिव, एक्जिक्यूटिव तथा कुछ और प्रकार की काउन्सिले होती हैं। करो के द्वारा राजस्व इकट्ठा होता है। सिविल सरविस है और सेना है। परन्तु वास्तव में चीन के बहुत विस्तृत क्षेत्र का बहुत ही थोड़ा-सा अंश इस सरकार के हाथ मे है और उसकी राजनीतिक तथा कानूनी प्रणाली का अधिकांश अभी तक सिर्फ कागजो पर ही लिखा पड़ा है, उसके सिवा और कहीं उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

नानकिंग मे जो प्रजातन्त्र की राष्ट्रीय सरकार है, उसके सिवा चीन मे और भी कई सरकारें हैं। यदि सच पूछिए तो निश्चित रूप से कोई यह नहीं कह सकता कि वहाँ कितनी सरकारे हैं और उनका आपस में क्या सम्बन्ध है? सबसे पहले तो वहाँ

बहुत-सी प्रांतीय सरकारें हैं, जिनमे से कुछ तो किसी एक ही गवर्नर या सैनिक नेता के अधिकार में हैं और कुछ मे राजनीतिज्ञों की काउन्सिले सब काम करती हैं। इसी अन्तिम प्रकार की एक सरकार कैण्टन मे है। और किसी हद तक यह भी कहा जा सकता है कि सभी प्रांतो मे शासन-कार्यों के लिए किसी-न-किसी प्रकार की काउन्सिले भी हैं। इनमें से कोई सरकार तो च्यांग-काई-शेक की सरकार का पूरा-पूरा अधिकार और नियंत्रण मानती है, कोई कम, और कोई अधिक मानती है, और कुछ ऐसी भी हैं जो उसका कुछ भी अधिकार नहीं मानतीं। हाँ, सभी सरकारें चीन की राष्ट्रीय एकता अवश्य मानती हैं; और सम्भव है कि आगे चलकर मिलकर एक हो जायँ और एक बड़ी राष्ट्रीय सरकार की सत्ता मानने लगें। लेकिन अभी तो यह राष्ट्रीय एकता भी सब जगह समान रूप से नहीं मानी जाती। यों कहने के लिए मंचुको भी चीनी राज्य की सीमा के अन्दर ही है, लेकिन जापान ने वहाँ जिस मंचूरियन साम्राज्य की स्थापना की है, वह चीन की किसी प्रकार की अधीनता नहीं मानता। भीतरी मंगोलिया और बाहरी मंगोलिया भी इसी प्रकार नाम मात्र के लिए चीनी सीमा के अन्दर हैं और चीनी राज्य के अन्तर्गत हैं। लेकिन बाहरी मंगोलिया में जो सोविएट प्रजातन्त्र है, उसका वास्तव में रूसी सोविएट प्रजातंत्र के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है और वह नानकिंग की कोई आज्ञा नहीं मानता। अब जेहोल भी मंचूको के साथ मिला लिया गया है। भीतरी मंगोलिया अभी तक झगड़े में ही पड़ा है। उसे चीन भी अपने अधिकार में रखना चाहता है, मंचूको, बल्कि यो कहना चाहिए कि जापान भी अपना अधिकार जमाना चाहता है और मंगोलिया का सोविएट प्रजातन्त्र भी उसे अपनी तरफ खींचना चाहता है। इसी तरह कानूनी दृष्टि से तिब्बत भी चीन का ही है। लेकिन

राजनीतिक दृष्टि से उस पर ब्रिटेन का कहीं अधिक प्रभाव है और चीन का राजनीतिक प्रभाव प्रायः नहीं के समान है। चीन के दूरस्थ प्रदेशो मे जो कुछ होता है, उससे तिब्बती सरकार कुछ भी मतलब नहीं रखती। इसी प्रकार चीनी तुर्किस्तान भी है तो चीनी सीमा के ही अन्दर, लेकिन इधर बहुत दिनो से वह मध्य एशिया का रण-क्षेत्र हो रहा है। वहाँ चीनी गवर्नर भी रहते है, लेकिन वहाँ के स्थानिक मुसलमान शासक उनसे लड़-झगड़कर सब अधिकार छीनने का प्रयत्न करते है और कम्यूनिस्ट उपद्रवियों तथा लुटेरो की सेनाएँ भी सदा कुछ-न-कुछ खुराफात करती रहती हैं। इस समय चीनी तुर्किस्तान मे कोई ऐसी दृढ़ सत्ता नहीं है जिसका अधिकार सब लोग मानते हो।

इसके सिवा चीन के कुछ हिस्से ऐसे भी हैं जिन पर कई विदेशी शक्तियो का अधिकार है। इनमे से कुछ हिस्से तो विदेशी शक्तियो ने जबरदस्ती अपने अधीन कर लिये है और कुछ हिस्सो का उन्होने किसी न किसी तरह का पट्टा लिखाकर वहाँ अपने लिए बहुत से सुभीते और विशेष अधिकार प्राप्त कर रखे है। हाँगकाँग अँगरेजो के अधिकार मे है जिसे उन्होने सन् १८४१ मे निश्चित रूप से अपने राज्य मे मिला लिया था। फ्रान्सीसियो ने इंडो-चीन पर तो पूरा-पूरा अधिकार कर ही रखा है। इसके सिवा दक्षिण-पश्चिम मे क्वांग चाऊ वान की जो खाड़ी है, उसका ९९ बरस का पट्टा उन्होने सन् १८९८ मे ही लिखा लिया था। अब शंघाई को लीजिए, जिसकी आबादी दस लाख से भी ज्यादा है और जिसमे मुश्किल से ३० हजार चीनी रहते हैं। वह एक सार्वराष्ट्रीय बस्ती हो गई है और उसमे सार्वराष्ट्रीय शासन तथा व्यवस्था होती है। चीन के साथ उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। सारे चीन देश में बहुत से ऐसे बन्दरगाह हैं जो

सन्धिवाले बन्दरगाह (Treaty Ports) कहलाते हैं और जिन में सन्धियो के द्वारा विदेशियों को बहुत से अधिकार मिले हुए हैं। इसके सिवा देश के भीतरी भागो मे भी नदियो के किनारे कुछ ऐसे बन्दरगाह हैं जिनमे विदेशियो को विशेष अधिकार प्राप्त हैं। इधर कुछ दिनो से ऐसे स्थानो की संख्या कुछ कम हो गई है, जिनमें विदेशियो को कुछ खास रिआयतें मिली हुई थी। इसी प्रकार के स्थानो मे वेई-हाई-वाई नाम का एक स्थान है जो ब्रिटिश सरकार ने सन् १६३० मे चीन को लौटा दिया था; और तियेन्तसिन मे इस प्रकार का जो अधिकार बेलजियनों को था, वह उन्होंने सन् १६३१ मे चीन को लौटा दिया था। पहले हानकाऊ मे भी अँगरेजों को कुछ अधिकार मिले हुए थे; लेकिन सन् १६२६ में चीन ने स्वयं ही वहाँ की सारी व्यवस्था अपने हाथ मे ले ली थी और तब से आज तक फिर कभी अँगरेजो ने उसे अपने हाथ मे करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। लेकिन फिर भी इस समय चीनी भूमि पर विदेशी शक्तियों की जो बस्तियाँ बसी हुई हैं, उन सबके कारण चीनी सरकार का प्रभुत्व और अधिकार बहुत ही कम हो गया है; और इसका कारण यह है कि चीन का जितना विदेशी व्यापार है, उसका बहुत बड़ा अंश शंघाई और हांग-कांग के ही अधिकार में है। और इनमे भी शंघाई तो चीन के शिल्प और उद्योग-धन्धों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है।

विदेशियो के अधिकार मे और बाहरी क्षेत्रो में इसी प्रकार की व्यवस्था है; लेकिन फिर भी ये सब स्थान चीनी सरकार के प्रति थोड़ी बहुत निष्ठा और भक्ति अवश्य ही रखते है। लेकिन देश के भीतरी भागो की अवस्था तो इस से भी गई-बीती है। बहुत से प्रदेशो पर कम्यूनिस्टो का या कम से कम सोवियट नियन्त्रण है। उधर उत्तर-पश्चिम में नानकिंग की

सरकार है और दक्षिण मे कैन्टन की सरकार है। इन दोनो के बीच मे कियांग्सी में सोविएट सरकार है, और सोविएट क्षेत्रो में यही सबसे अधिक महत्व का क्षेत्र है। यह बिलकुल प्रहाड़ी प्रदेश है और इधर कई बरसों से इसका बिलकुल स्वतन्त्र अस्तित्व चला आ रहा है। च्यांग काई शेक ने यहाँ से सोविएट शासन हटाने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन उसे कोई सफलता नहीं हुई। होनन और हुपेह नामक प्रदेश मे भी सोविएट शासन है। परन्तु इन प्रदेशो की राजनीतिक अवस्था प्रायः बदलती रहती है और वहाँ की सरकारो का नियन्त्रण दृढ़ नहीं है। देश के मध्य भाग मे भी और दक्षिणी भाग मे इसी प्रकार के कुछ सोविएट क्षेत्र हैं। नानकिंग और कैन्टन के बीच मे फूकियेन पड़ता है। अभी कुछ ही बरस पहले वहाँ च्यांग काई शेक के विरोध मे एक वाम पार्श्व की स्वतन्त्र सरकार स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। लेकिन इसमे कैन्टन के नेताओं ने सहायता नहीं दी, जिससे वह प्रयत्न विफल हो गया और विद्रोहियो का पूरा-पूरा दमन हुआ। कैन्टन की सरकार कभी तो नानकिंग-वाली सरकार के साथ मिल जाती है और कभी उसके विरुद्ध हो जाती है। लेकिन फिर भी उसका सारा नियन्त्रण और शासन स्वतन्त्र ही रहता है। उत्तरी चीन का केन्द्र पेकिन मे है, पर वहाँ कोई निश्चित राजनीतिक व्यवस्था नही है। वहाँ का शासन प्राय प्रान्तीय गवर्नरो या सैनिक नेताओं के हाथ में रहता है। ये लोग कहने के लिए तो नानकिंग के अधीन होते है, लेकिन जरा सी बात होते ही चट दूसरी तरफ भी जा मिलते है; और फिर अवसर मिलते ही अपने पुराने स्वामियो का भी प्रभुत्व मानने लगते हैं। इधर कई बरसो से इनमें से कुछ गवर्नर और सैनिक नेता जापान की तरफ मिल गये थे। और इधर तीन बरसो से जापान ने चीन मे जो उपद्रव

मचा रक्खा है, वह बहुत कुछ इन लोगों के षड़यन्त्र का भी परिणाम है।

इस प्रकार बीस लाख वर्ग मील से भी अधिक, और यदि हम मंचूरिया, मंगोलिया और तिब्बत को भी इसमें शामिल कर लें तो चालीस लाख वर्ग मील से भी अधिक प्रदेश ऐसा है, जिस पर निश्चित रूप से किसी का राजनीतिक स्वामित्व नहीं है; और इसका अधिकांश ऐसा ही है जिसमें कोई निश्चित शासन-प्रणाली भी नहीं है। कोई यह भी नहीं जानता कि इन स्थानों में कितने आदमी रहते हैं। लेकिन फिर भी अनुमान किया जाता है कि इन सब प्रदेशों में ४५ से ५० करोड़ तक आदमी रहते हैं। सारे संसार मे जितने आदमी बसते हैं, उनमे से करीब-करीब एक-चौथाई चीनी हैं।

आज-कल पढ़े-लिखे और समझदार लोगों की प्रायः यही धारणा रहती है कि किसी प्रकार का सभ्यतापूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिए एक दृढ़ और प्रबल राज्य की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। और इसी लिए पाश्चात्य देशो के निवासियों को यह देखकर बहुत अधिक आश्चर्य होता है कि जो चीनी निस्सन्देह रूप से बहुत अधिक सभ्य हैं, वे इस प्रकार की राजनीतिक परिस्थितियों में किस प्रकार जीवन-यापन करते हैं। हम प्रायः सुना करते हैं कि चीन मे ऐसे गृह-युद्ध होते रहते हैं, जिनमे बहुत बड़े-बड़े और घने बसे हुए प्रदेश बिलकुल बरबाद हो जाते हैं, वहाँ सदा बहुत बड़ी बाढ़ें आती रहती हैं, अनेक प्रकार के भीषण मारक रोग फैलते रहते हैं, आये दिन बड़े-बड़े अकाल पड़ते हैं, लाखों आदमी अपना घर-बार छोड़कर भाग जाते हैं और लुटेरों और डाकुओं के बड़े-बड़े दल सारे देश में घूमते रहते हैं। उस समय हमें बहुत अधिक आश्चर्य होता है और हम सोचते हैं कि या तो इन चीनियो को अब तक नितान्त

बर्बर अवस्था मे पहुँच जाना चाहिए था और या कमर कसकर इस बात का प्रयत्न करना चाहिए था कि यह सारी गड़बड़ी और अव्यवस्था दूर हो जाय और देश मे एक ऐसी दृढ़ सरकार स्थापित हो जो सारी प्रजा को एक सूत्र में बाँधकर रख सके। पाश्चात्य देशो के राजनीतिज्ञ भी और व्यापारी भी बराबर चिल्लाते रहते हैं कि चीन मे एक प्रबल केन्द्रित सरकार के स्थापित होने की बहुत आवश्यकता है; और जब कभी कोई नेता यह काम करने का वादा करता है, तब हर तरह से उसकी पूरी-पूरी सहायता भी करते है। कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है जब देखनेवालो को यह मालूम होने लगता है कि अब शीघ्र ही चीन मे एकता स्थापित हो जायगी। लेकिन इसी बीच में फिर कोई ऐसी घटना हो जाती है जो सारे चीन को पहले की तरह छिन्न-भिन्न कर देती है। फिर कोई गृह-युद्ध छिड़ जाता है और फिर पुकार मचती है कि रोजगार चौपट हो रहा है। जो धन पुराने बड़े-बड़े ऋण चुकाने के लिए दिया जाना चाहिए था, वही फिर नये-नये अस्त्र-शस्त्र खरीदने मे खतम हो जाता है—पुराने ऋणों का बहुत सा अंश भी अस्त्र-शस्त्र खरीदने मे ही लगा है—और लोग चीनियो की इस आदत की शिकायत करने लगते है कि वे विदेशियो के साथ घृणा करते है। लेकिन सच बात यह है कि सभी विदेशी चीन मे केवल इसलिए एक दृढ़ सरकार स्थापित करना चाहते है कि हम उससे खूब रुपये वसूल कर सके। चीनियों की एक यह भी आदत है कि वे राष्ट्रीयता के भावो से प्रेरित होकर बहुत जल्दी विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार करने लग जाते है। और इसका कारण यही है कि विदेशियो का मुकाबला करने के लिए और उनके प्रति अपनी घृणा और रोष प्रकट करने के लिए उनके यहाँ कोई संघटित राष्ट्रीय राज्य नही है। अब यदि बेचारे चीनियो का देश-प्रेम विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार के रूप

मे न प्रकट हो, तो और किस रूप मे प्रकट हो? बस यही बहिष्कार उनका आखिरी सहारा रह जाता है।

चीनी गांव—चाहे पाश्चात्य आलोचक और उनके साथ बहुत से शिक्षित चीनी भी भले ही लाख चिल्लाया करें, लेकिन फिर भी चीनियों का जीवन बिलकुल ठीक तरह से बीतता चलता है। उस पर इन सब अव्यवस्थाओ का कोई प्रभाव नही पड़ने ाता; बल्कि हम कह सकते है कि एक बहुत बड़ी हद तक वे इन सब अव्यवस्थाओ की कोई परवाह भी नही करते। इसके सिवा पाश्चात्य आलोचक चीन की राजनीतिक अवस्था देखकर जो यह समझ लेते हैं कि वहाँ किसी तरह का व्यवस्थित शासन नही है, यह भी उनकी भूल है। चीन बहुत पुराने जमाने से बीस-बाईस बड़े-बड़े प्रान्तों मे बॅटा हुआ है और वह एक बहुत बड़ा राष्ट्र समझा जाता है। लेकिन सामाजिक शासन के लिए वहाॅ असल इकाई सारा चीनी राष्ट्र नहीं है, बल्कि उसके बहुत ही छोटे-छोटे टुकड़े है। सारे राष्ट्र अथवा प्रान्तों पर चाहे जो बीतती रहे, लेकिन गाॅवो का जीवन तब तक बराबर ज्यो का त्यों चलता रहता है, जब तक स्वयं उन गाॅवों में लड़नेवाली सेनाएँ न आ पहुँचें। और उस अवस्था मे भी ज्यों-ही वे सेनाएँ गाँव से हट जाती हैं, त्यो-ही वहाँ के निवासी अपने घावो की मरहम-पट्टी करके फिर पहले की तरह जीवन व्यतीत करने लगते है। चाहे कितनी ही बड़ी बरबादी सामने क्यो न दिखाई देती हो और चाहे कितनी ही बड़ी बरबादी क्यो न हो चुकी हो, लेकिन चीन के देहाती अपनी जमीने जोतने-बोने का काम कभी बन्द नहीं करते। हाँ, कुछ प्रदेश वहाँ अवश्य ऐसे है, जिन पर हर साल कुछ न कुछ आक्रमण होते रहते हैं, जैसे शान्टुंग के कुछ हिस्से। और ऐसे स्थानो के लोग वहाँ से हटकर ऐसी जगहों मे चले गये हैं, जहाँ आबादी कम है। मंचूरिया और भीतरी मंगोलिया मे

आज-कल बहुत से ऐसे लोग हैं जो ऐसे ही स्थानो से आकर बसे हैं। और इन प्रदेशो मे हर साल मीलो बंजर जमीने ये नवागन्तुक खेती-बारी के लिए तैयार करते हैं और उनमे फसलें पैदा करते हैं।

तात्पर्य यह कि गॉवो का जीवन प्रायः ज्यो का त्यो चलता रहता है; और इसका मुख्य कारण यही है कि चीन मे परिवार की सस्था बहुत ही दृढ़ है। चीन में पूर्वजों की जो उपासना और पूजा होती है, वह पारिवारिक संस्था की दृढ़ता का सबसे अच्छा लक्षण है। राजनीति के विस्तृत क्षेत्र मे चाहे जो हुआ करे, लेकिन आर्थिक और सामाजिक बातो मे परिवार सदा एक सूत्र में बँधा रहता है और परिवारो के वर्ग गॉवों की अक्षुण्णता नष्ट नहीं होने देते। चीन के अधिकांश स्थानो मे आबादी बहुत घनी है और हर परिवार के पास प्रायः इतनी थोड़ी जमीन होती है कि उसकी पैदावार से बहुत ही मुश्किल से उसका गुजर होता है। वे लोग पाश्चात्य वैज्ञानिक यंत्रों से तो किसी प्रकार की सहायता लेते ही नहीं; हाँ मेहनत भर-पूर करते है और जमीन से अधिक-से-अधिक जितनी पैदावार हो सकती है, उतनी कर लेते हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि सारे चीन में आबादी बहुत घनी है। दक्षिण की ओर के तो अधिकांश स्थान बहुत घने बसे हुए हैं, पर उत्तर में उतनी आबादी नहीं है और वहाँ से एशिया के मध्य भाग तक अभी बहुत-सी जमीन खाली पड़ी है। इस समय तो वह सारी जमीन प्रायः रेगिस्तान के ही रूप मे है; हाँ, आबपाशी करके वह खेती-बारी के काबिल बनाई जा सकती है। लेकिन इसके लिए बहुत ज्यादा मेहनत की जरूरत है। उधर यांग्जी की तराई और दक्षिणी प्रान्तो में आबादी इतनी ज्यादा है कि अब वहाँ और आदमियो के बसने की बिलकुल गंजाइश नहीं रह गई है। वहाँ के धीर किसान चावल

और हरी तरकारियाँ पैदा करते हैं और रेशम के कीड़े पालते हैं और सोया बीन (एक प्रकार की फली) और मछली के साथ वही चावल और तरकारियाँ खाकर दिन बिताते हैं। यहाँ से उत्तर की ओर चावल की जगह लोग गेहूँ और ज्वार पैदा करते हैं। उत्तर मे आबादी अपेक्षाकृत बहुत कम है। लेकिन सामाजिक जीवन वहाँ भी वैसा ही है, जैसा दक्षिण मे है। वहाँ बाढ़ें भी खूब आती हैं और अकाल भी खूब पड़ते हैं और लड़ाके सरदार तथा डाकू भी बहुत होते हैं; और भविष्य की सभी बातें प्रायः अनिश्चित रहती है। यदि कोई बात निश्चित रहती है तो केवल यही कि कोई न कोई आफत जरूर आवेगी।

परिवार और गाँव का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है और दोनों मिलकर अपना काम चलाते रहते हैं। लेकिन ये गाँव अधिक आदिम युग के निवासियो के गाँवों की तरह न तो सारी दुनिया से न्यारे होकर ही रहते हैं और न इनका काम बिना दूसरे गाँवों और शहरो की सहायता के चलता है। चीन एक सभ्य देश है। वहाँ एक बहुत जबरदस्त सास्कृतिक एकता है और किसी तरह का कठोर वर्ग-भेद भी नहीं है। लेकिन इसका यह मतलब नही है कि हर एक मामूली चीनी किसान चीनी अथवा पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार शिक्षित होता है। फिर भी चीनी प्रजा के सबसे नीचेवाले स्तर को छोड़ कर और बाकी सभी स्तरों के लोग प्रायः अच्छी शिक्षा प्राप्त करते हैं। वहाँ बहुत दिनो से एक प्रकार की परीक्षा-प्रणाली चली आती है; और चाहे जितने गृह-युद्ध होते रहे, और चाहे जितने शासन-सम्बन्धी परिवर्त्तन होते रहे, परन्तु यह परीक्षा-प्रणाली बराबर चली चलती है; और इसके द्वारा एक मामूली किसान का लड़का भी बहुत बड़ा विद्वान् हो सकता है। चीन मे विद्वानों का बहुत आदर होता है और उन्हे प्रायः जीविका-निर्वाह के लिए चिन्तित नही

होना पड़ता। चीन मे जो बड़े सेनापति और गवर्नर होते हैं, उनका कोई अलग वर्ग नही है और न ये कार्य तथा पद वहाँ वंशानुक्रमिक रूप से ही चलते हैं। सभी तरह के लोग वहाँ सेनापति भी हो सकते हैं और गवर्नर भी। जापान में जिस तरह कुछ लोगो को वंशानुक्रमिक रूप से कुछ विशेष अधिकार होते हैं, उस तरह चीन में नहीं होते और न वहाँ भारत की तरह जाति-पाँति का ही कोई ऐसा बखेडा है, जो सारी प्रजा की एकता मे बाधक हो। वहाँ का धार्मिक मत-भेद भी एकता मे बाधक नही होता। अधिकाश चीनी बौद्ध है; लेकिन इसके सिवा वहाँ ताओ-धर्म और कनफूची का चलाया हुआ धर्म माननेवाले लोग भी बहुत हैं। लेकिन इन तीनों ही धर्मों के अनुयायी समान रूप से पूर्वजो की पूजा और उपासना करते है। और तीनो ही धर्मों के अनुयायी मजे में मिलकर रहते हैं। उनमें कभी किसी तरह का लड़ाई-झगड़ा नही होता। बल्कि कुछ लोग तो वहाँ ऐसे भी है जो तीनो ही धर्म समान रूप से मानते और तीनों ही धर्मो के कृत्य करते हैं। पाश्चात्य जगत् के धर्मों की अपेक्षा चीन का धर्म बहुत-सी बातो में भिन्न है। कनफूची का चलाया हुआ धर्म वस्तुतः आचारात्मक ही है और न तो उसमें किसी तरह का धार्मिक कृत्य ही होता है और न उसमें कोई ईश्वर-विद्या ही होती है। उसका मुख्य उद्देश्य तो लोगो को यही बतलाना है कि जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए और अपना आचरण किस प्रकार का रखना चाहिए। उसमे पर-लोक और स्वर्ग सरीखी वे सब बाते भी नहीं हैं जो साधारणतः और धर्मों में लोगो की भावुकता की तृप्ति के लिए हुआ करती हैं। इसके विरुद्ध बौद्ध-धर्म और ताओ-धर्म अधिकतर कर्म-कांड की बातों से सम्बन्ध रखते हैं। उनमे आचार सम्बन्धी बाते भी बहुत कम हैं और भावुकता के लिए भी बहुत थोड़ी जगह है। कनफूचीवाले

धर्म का अनुयायी बहुत सहज मे बौद्ध भी हो सकता है, क्योंकि दोनो में कोई बात ऐसी नहीं है जिससे दूसरे का विरोध होता हो। यदि कोई चीनी ये दोनो ही धर्म मानता हो तो भी पाश्चात्य जनता की दृष्टि से वह धार्मिक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता। और फिर सबसे बढ़कर बात यह है कि चीन की राजनीति पर चीनी धर्म का कुछ भी प्रभाव नहीं है। चीनियो का आचार-शास्त्र व्यक्तिगत है, राजनीतिक नही है; और धार्मिक मत-भेद के कारण चीनियों की राजनीतिक आकांक्षाओ की पूर्त्ति मे कोई बाधा नही होती। चीन मे बहुत-से मुसलमान भी रहते है और उनकी संख्या शायद दो करोड़ या इससे भी कुछ अधिक होगी। लेकिन वे भारत के मुसलमानों की तरह राष्ट्रीयता के मार्ग के कंटक नहीं बनते और न बौद्ध तथा ताओ चीनियों के साथ लड़ना-भिड़ना ही पसन्द करते हैं। भारतीय मुसलमानो की तरह वे इस्लामी सभ्यता और संस्कृति के प्रचार के ठेकेदार भी नहीं बनते, उनकी दृष्टि भी शुद्ध राष्ट्रीय होती है और वे सबसे बढ़कर अपने देश का हित चाहते हैं। वे ससार के दूसरे इस्लामी देशों में आश्रित होकर रहना नहीं चाहते। और इन सब बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि वे भारतीय मुसलमानो को राष्ट्रीयता और देश-प्रेम की बहुत अच्छी शिक्षा दे सकते हैं। चीन मे ईसाइयों की संख्या भी तीस-चालीस लाख के लगभग है। चीन में ईसाई धर्म-प्रचारकों का जाल तो बहुत बड़ा बिछा है, लेकिन उन्हे चीनियों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने मे बहुत ही कम सफलता होती है। धार्मिक क्षेत्र में तो नहीं, लेकिन शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में अवश्य ही ईसाई धर्म-प्रचारक बहुत अच्छा काम करते हुए दिखाई देते हैं। वहाँ अधिकतर ईसाई धर्म-प्रचारक अमेरिका से ही आये हुए हैं; और उन लोगों की समझ में यह बात अच्छी तरह आ गई है कि यहाँ ईसाई धर्म

का सहज मे प्रचार नही हो सकता। और इसी लिए वे व्यर्थ गिरजे न बनवाकर प्राय. अस्पताल, स्कूल और कालेज ही बनाते हैं और अधिकतर शिक्षा-प्रचार तथा स्वास्थ्य-रक्षा का ही काम करते है।

चीनी राष्ट्रीय दल के नेता प्रायः इस बात की शिकायत करते हैं कि चीन मे दिन-पर-दिन मिशन स्कूलो और कालेजो की जो संख्या बढ़ती जाती है और विदेशी लोग पूँजी लगाकर यहाँ जो कल-कारखाने और कोठियाँ आदि खोल रहे हैं, इससे चीन की प्राचीन संस्कृति धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। अमेरिकन लोग चीन मे शिक्षा का जो प्रचार कर रहे है और अमेरिका के विश्व-विद्यालयो मे चीनी विद्यार्थियो को जो शिक्षा मिल रही है, उससे भी प्राचीन संस्कृति के नाश मे बहुत सहायता मिल रही है। इसमे सन्देह नहीं कि अमेरिका की यह नीति उसका व्यापार बढ़ाने मे बहुत अधिक सहायक होती है। जो चीनी अमेरिकन कालेजो मे शिल्प और उद्योग आदि की शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे अधिकतर अमेरिकन साज-सामान से ही परिचित होते हैं, उन्हीं की नाप-तौल और दूसरी खास-खास बाते जानते हैं और उन्हीं का काम करने का ढंग सीखते हैं। और इसीलिए उन्हे जिस चीज की जरूरत होती है, वह अमेरिका से ही खरीदते हैं। और इसमे कुछ भी सन्देह नहीं कि चीनी विद्यार्थियो की अमेरिकन साँचे मे जो यह ढलाई होती है, उससे चीन की प्राचीन संस्कृति की बहुत-सी परम्परागत बातें नष्ट होती जा रही हैं। चीन के जिन प्रदेशो मे पाश्चात्य शिल्प और उद्योग-धन्धो की जड़ जम गई है, उन प्रदेशो के देहातियो की रहन-सहन भी जल्दी-जल्दी बदलती जा रही है और उनकी बहुत-सी बाते पाश्चात्य ढंग से ही होने लगी है। चीन में जितने प्रकार के राष्ट्रीय आन्दोलन होते है, उन सबके नेता और प्रवर्त्तक भी वही लोग होते हैं जो

दूसरे देशों मे शिक्षा प्राप्त करके आते हैं। चीन के अधिकांश विद्यार्थी पहले अमेरिका और पश्चिमी युरोप में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे। फिर वे जापान जाने लगे और अब अधिकतर सोविएट रूस में जाकर शिक्षा प्राप्त करते हैं। चीन की आधुनिक राष्ट्रीयता के जनक स्व० डा० सन-यात-सेन के अनुयायी प्रायः वही चीनी थे, जो या तो दूसरे देशो मे जाकर बस गये थे और या अपने देश से किसी प्रकार निर्वासित कर दिये गये थे। दूसरा प्रसिद्ध चीनी नेता यूजेन-चेन पहले ट्रिनिडाड मे रहा करता था। च्यांग-काई-शेक ने सैनिक शिक्षा मास्को में रहकर प्राप्त की थी। उसका सबसे बड़ा सहायक और आर्थिक विषयो का सबसे अच्छा ज्ञाता टी० वी० सूंग हारवर्ड विश्वविद्यालय का स्नातक है और च्यांग काई-शेक की स्त्री ने, जो सूंग की बहन है, वेलेस्ली कालेज मे शिक्षा पाई थी। सूंग की एक और बहन थी जो सन-यात-सेन को ब्याही थी और उसने भी जार्जिया के वेस्लियन कालेज में शिक्षा पाई थी। इस विदेशी और विशेषतः अमेरिकन प्रभाव ने चीन की पुरानी सांस्कृतिक परम्परागत बातो में बहुत कुछ परिवर्त्तन और सुधार तो अवश्य कर दिया है, लेकिन वह चीनी संस्कृति का नाश नहीं कर रहा है और न उसे केवल अनुकरणशील ही बना रहा है। वहाँ की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा इतनी प्रबल और दृढ़ है कि उसका जल्दी नाश हो ही नहो सकता। चीन में यद्यपि बोलियाँ तो कई बोली जाती हैं, पर बहुत दिनों तक वहाँ साहित्य की भाषा केवल एक ही रही है और इसी लिए सारे देश में चीनी संस्कृति का प्रचार बहुत सहज में हो सका था। यद्यपि यह भाषा बहुत ही जटिल है और हर जगह इसका प्रचार करना बहुत ही परिश्रम-साध्य है, परन्तु फिर भी इसे साधारणतः सभी चीनियो ने मान्य कर लिया है; और इसी ने अब एक और भाषा के प्रचार के लिए बहुत अच्छा

रास्ता भी तैयार कर दिया है। अब चीन में जो नया साहित्य प्रस्तुत हो रहा है, वह सब उत्तरी मंडारिन बोली मे है और उसी का अब सब जगह प्रचार होने लगा है।

चीनी प्रजातन्त्र—आज-कल चीन मे जो प्रजातन्त्र स्थापित है, उसका आरम्भ सन् १९११ वाली सफल क्रांति के उपरान्त सन् १९१२ में हुआ था। सन-यात-सेन ने विदेश मे रह कर एक क्रान्तिकारी संस्था का संघटन किया था और उस संस्था के नेतृत्व में सबसे पहले दक्षिणी चीन ने क्रान्ति की थी। दक्षिणी चीन के निवासियो ने ही उत्तर में पहुँच कर मंचू राजवंश के उस अन्तिम राजा को सिहासन से उतारा था, जिसे अब जापान ने मंचुको के सिंहासन पर बैठाया है और जो अब जापानियो के हाथ की कठ-पुतली बना हुआ है। चीन का राष्ट्रीय दल कोमिन्टांग कहलाता है। सन-यात-सेन ने पहले जो संघटन किया था, उसी के स्थान पर इस दल की सृष्टि १९११ वाली क्रान्ति के समय हुई थी। सन-यात-सेन ही चीनी प्रजातन्त्र का पहला राष्ट्रपति बनाया गया था। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि चीन में भी पाश्चात्य पार्लमैण्टरी प्रतिनिधि सत्तात्मक शासन-प्रणाली के ढंग पर प्रतिनिधिसत्तात्मक प्रजातन्त्र स्थापित होना चाहता है। उस समय यद्यपि दक्षिणी चीन की सेनाएँ उत्तरी प्रदेश में घुस गई थी और वहाँ उन्होने विजय भी प्राप्त कर ली थी और वहाँ के सेनापतियो को यांग्जी की तराई में भगा दिया था, तो भी उत्तरी प्रान्तो मे प्रतिनिधिसत्तात्मक आन्दोलन ज्यादा जोर नहीं पकड़ सका था। वहाँ युआनशि-काई के नेतृत्व मे एक बहुत बड़ी सेना तैयार थी जो दक्षिणी सेनाओ को आगे बढ़ने से बहुत सहज में रोक सकती थी। युआन-शि-काई नये प्रजातन्त्र के साथ समझौता करने के लिए तो तैयार था, लेकिन वह यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि इस

प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति सन-यात-सेन हो। युआन के साथ और भी ऐसे बहुत से शक्तिशाली लोग मिले हुए थे जो एक ऐसी हलकी क्रान्ति करना चाहते थे जिससे चीनी समाज की आर्थिक व्यवस्था मे, जहाँ तक हो सके, बहुत ही कम विक्षेप हो। सन-यात-सेन यह नहीं चाहता था कि और अधिक झगड़ा बढ़े और वह प्रजातन्त्र के लिए अधिक-से-अधिक लोगो को एक मे मिलाना चाहता था; इसलिए कुछ ही महीनो तक राष्ट्रपति के पद पर रह कर अन्त मे उसने यह झगड़ा मिटाने के लिए उस पद का परित्याग कर दिया और उसकी जगह युआन-शि-काई राष्ट्रपति हो गया। इस प्रकार इस नवीन चीनी प्रजातन्त्र का आरम्भ उस चरमवादी सन-यात-सेन के नेतृत्व मे नहीं हो सका था, जिसकी मृत्यु सन् १६२५ में हुई थी और जो तब से नये चीन का नेता और प्रवर्त्तक माना जाता है, बल्कि उस युआन-शि-काई के नेतृत्व मे हुआ था जो सन-यात-सेन की चरम सीमावाली नीति का किसी तरह पालन नहीं करना चाहता था। सन-यात-सेन ने अपनी सारी नीति का आगे चलकर एक "टेस्टामेन्ट" या इच्छा-पत्र मे उल्लेख किया था जो तब से अब तक कोमिन्टाग दल के लिए वेद-स्वरूप हो गया है। इस टेस्टामेन्ट में सन-यात-सेन के उन सभी विचारों का समावेश है, जिनका प्रचार करने के लिए वह जीवन भर प्रयत्न करता रहा। इसमे उसने यह घोषणा की थी कि हमारे प्रजातन्त्र के मुख्य आधार तीन सिद्धान्त हैं—राष्ट्रीयता, प्रतिनिधितन्त्र और साम्यवाद। वह एक ऐसा प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहता था जो सारे चीनी राष्ट्र को मिलाकर एक ऐसी प्रबल शक्ति का रूप दे सके जो समस्त बाह्य हस्तक्षेपों और आक्रमणो को सहज मे हटा कर दूर कर सके। पाश्चात्य देशो के प्रतिनिधिसत्तात्मक सिद्धान्तों के अनुसार वह अपने नये राष्ट्रीय राज्य का संघटन करना चाहता था और वह एक इस

तरह के साम्यवाद का प्रचार करना चाहता था जो चीनी समाज के आर्थिक संघटन के अनुरूप हो और जिसकी व्याख्या करते हुए वह कहा करता था—"प्रजा को इस बात का पूरा-पूरा अधिकार होना चाहिए कि जीवन-निर्वाह के साधन उसे ठीक तरह से प्राप्त हो।"

लेकिन युआन-शि काई इन सिद्धान्तो के अनुसार चीन का फिर से संघटन नही करना चाहता था। इसके विपरीत वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता और प्रभुत्व दृढ करने के प्रयत्न मे लग गया, जिससे क्रान्तिकारियो मे बहुत ही विकट मत-भेद और विरोध उत्पन्न होने लगे। सन् १६१३ मे दक्षिणवालो ने सन-यात-सेन के नेतृत्व मे एक विद्रोह खड़ा किया जिसे युआन ने सफलतापूर्वक दबा दिया। सन-यात-सेन कैन्टन से भगा दिया गया और उसने चीन के बिलकुल भीतरी भाग मे जाकर शरण ली और वही से उसने फिर से अपना राष्ट्रीय आन्दोलन खड़ा करने का प्रयत्न आरम्भ किया। इसके दूसरे ही साल युरोप मे महायुद्ध छिड गया जिससे जापान को अपना दुष्ट उद्देश्य सिद्ध करने का अच्छा अवसर मिलगया। उस समय जापान भी मित्र शक्तियों के साथ मिला हुआ था, इसलिए उत्तरी चीन में जरमनो के अधिकार मे जितने स्थान थे, उन सब पर जापान ने कब्जा कर लिया और शान्टुङ्ग प्रदेश मे भी उसने अपनी सेनाएँ भेज दीं। सन् १६१५ मे जापान ने युआन-शि-काई के सामने अपनी वह प्रसिद्ध "इक्कीस मॉगे" पेश की जो यदि पूरी तरह से मान ली जाती तो चीनी स्वतन्त्रता का पूर्ण रूप से नाश ही कर डालती। उस समय जापान ने सारे चीन देश पर एक प्रकार से अपना सरक्षण ही स्थापित कर रक्खा था। उस समय यूरोपीय शक्तियाँ महायुद्ध में लगी हुई थी और इस ओर बिलकुल ध्यान नही दे सकती थी। और युआन-शि-काई की

नीति यह थी कि जिस तरह से हो सके, जापान को कुछ दे-दिला कर राजी रखना चाहिए। लेकिन जापान के साथ समझौता करने के उसने जो प्रयत्न किये थे, उनसे देश मे बहुत अधिक असन्तोष फैल गया; और जब दिसम्बर १६१५ में उसने अपने आप को सारे चीन का सम्राट् घोषित कर दिया, तब तुरन्त ही एक नया विद्रोह खड़ा हो गया। उस समय जो गृह-युद्ध आरम्भ हुआ था, उसी में युआन मारा गया था। लेकिन तभी से चीन बहुत से टुकड़ो में बँट गया। तब से अब तक वहाँ बराबर प्रतिद्वन्द्वी सेनापतियों मे खूब लड़ाइयाँ झगड़े होते आ रहे हैं। हर एक सेनापति के हाथ मे एक या दो प्रान्त हैं और सभी अपने पड़ोसी प्रान्तो के सेनापतियो को परास्त करने के प्रयत्न मे लगे रहते हैं—सभी एक दूसरे को खा जाना चाहते हैं। राजधानी पेकिन मे एक बहुत कमजोर सरकार रहती है और वहाँ का सेनापति जिसे चाहता है, उसे उस सरकार का प्रधान बना देता है। यह प्रधान भी प्रायः नाम मात्र का ही शासक होता है और देश के शासन पर इसका कुछ भी अधिकार नही होता। सन् १६१७ में पेकिन सरकार ने यह सोचा था कि यदि हम भी महायुद्ध मे सम्मिलित हो जायँगे तो जापान के विरुद्ध हमे यूरोपीय शक्तियो की सहायता प्राप्त हो सकेगी; और इसी आशा से उसने युद्ध की घोषणा भी कर दी थी। जब युद्ध समाप्त हो गया, तब शान्ति महासभा मे चीन की ओर से इस बात का प्रयत्न भी किया गया था कि शान्टुङ्ग पर से जापान का प्रभुत्व हट जाय। लेकिन जब उसका यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ, तब उसने वार्सेईवाली सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। तो भी वह राष्ट्र-संघ मे अवश्य सम्मिलित हो गया। लेकिन उस समय भी वहाँ एक ऐसी ही सरकार थी जिसके हाथ में कोई वास्तविक शक्ति नही थी।

लेकिन इस वीच मे भी चीनी बराबर यह सिद्ध करते रहे थे कि यद्यपि हमारे यहाँ कोई राष्ट्रीय राज्य नहीं है, लेकिन फिर भी हम सब लोग मिलकर काम कर सकते है। सन् १६१६ में वहाँ जापानियों के विरुद्ध जो वहिष्कार आरम्भ हुआ था, वह एक राष्ट्रीय आन्दोलन था और सारे देश में उसने खासा ज़ोर पकड़ा था। जापानी नीति पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ा था और इसी लिए सन् १६२१ मे जो वाशिंगटन कान्फ्रेन्स हुई थी, उसमे अमेरिका की तरफ से दबाव पड़ने पर जापान ने अपनी पुरानी नीति में कुछ परिवर्तन और सुधार भी किया था। उस समय वाशिंगटन मे नौ महा शक्तियो की जो सन्धि हुई थी और जिसमे ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिकन संयुक्त राज्य और जापान आदि सभी सम्मिलित थे, उसके अनुसार यह निश्चित हुआ था कि चीन के शासन और सीमा सम्बन्धी स्वतन्त्रता की रक्षा की जिम्मेदारी इन सभी शक्तियो पर रहेगी। इन सव शक्तियो ने मिलकर यह भी निश्चय किया था कि चीन के बाजारों में सभी राष्ट्रो के व्यापारियो के साथ समान व्यवहार होगा; और यह भी वादा किया था कि चीन मे जो राजनीतिक झगड़े होंगे, उनसे हम लोग कोई अनुचित लाभ नहीं उठावेगे और न अपने लिए कोई खास रिआयत या सुभीता चाहेंगे। लेकिन इसके बाद ही पहले तो जापान ने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया; और तव अप्रैल १६३४ मे यह घोषणा कर दी कि चीन के सम्बन्ध मे किसी यूरोपीय या विदेशी शक्ति को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। और १६३७ मे एक बहाना निकालकर चीन पर आक्रमण भी कर दिया जिससे आज दिन तक वहाँ लड़ाई चल रही है। इन सव बातों के कारण वाशिंगटनवाली वह सन्धि रद्दी के टोकरे मे चली गई है। चीन

का सर्वनाश हो रहा है और अब तक उसके लगभग २०, लाख आदमी मरे और घायल हुए हैं और सारे देश का नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त हो रहा है। लेकिन बाकी आठ महाशक्तियों में से, जिन्होने चीन की रक्षा का जिम्मा लिया था, कोई चॅ तक नहीं कर रहा है। सभी चुपचाप यह लड़ाई देख रहे हैं। बीच-बीच में इन शक्तियो के अधिकृत स्थानों और उनके अधिकारों आदि पर भी और उनकी बस्तियो पर भी हमले होते रहते हैं। लेकिन अभी तक किसी को मौखिक विरोध करने के सिवा किसी प्रकार का क्रियात्मक विरोध करने का साहस नहीं हो रहा है।

सन् १६१६ में चीन में जापानियो के विरुद्ध जो आन्दोलन उठा था और शान्टुंग तथा दूसरे विदेशी प्रभाव-क्षेत्रों के सम्बन्ध में जो झगड़ा हुआ था, उसके कारण चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन मे फिर बहुत बल आ गया था और सारे देश मे कोमिन्टांग का पक्ष बहुत प्रबल हो गया था। इस बार इस आन्दोलन का नेतृत्व विद्यार्थियों ने ग्रहण किया था। उस समय विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में राष्ट्रीय झंडे के नीचे आये थे और जापानी माल का अधिकतर बहिष्कार उन्हीं के प्रयत्न से हुआ था। मिशनरियों के बहुत से स्कूल और कालेज हैं जिनसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत बढ़ गई है; और चीनी जनता में विद्यार्थियों का वर्ग बहुत ही महत्वपूर्ण तथा प्रभावशाली हो गया है। उन विद्यार्थियों को शिक्षा भी अच्छी मिली है। इन सब बातों के कारण उन्होंने चीनी मजदूरो का भी अच्छा संघटन किया था और विशेषत: उन मजदूरो का और भी अच्छा संघटन किया था जो विदेशी पूँजीदारों के यहाँ काम करते थे। एक तो चीन मे विद्या का यों ही बहुत आदर है और दूसरे वहाँ जाति-पाँति या वर्ग-विभेद भी नहीं है। इसलिए विद्यार्थियों का

आन्दोलन बहुत जोरदार हो गया था और उसका राजनीतिक प्रभाव भी बहुत बढ़ गया था। इधर कई बरसों से देश मे राष्ट्रीय सरकार की जो बहुत जोरदार माँग हो रही है और विदेशियों के विरुद्ध जो उग्र राष्ट्रीय नीति काम में लाई जा रही है, वह सबसे अधिक विद्यार्थियो के वर्गों के कारण ही है। सन् १९१९ में देश के सभी विद्यार्थी सन-यात-सेन के बहुत बड़े भक्त और अनुयायी थे और आगे चलकर उनमे से बहुतो पर कम्यूनिस्ट विचारों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। इसलिए कोमिन्टांग में विद्यार्थी ही सबसे ज्यादा और जोशीले काम करते थे। इसके सिवा उनमे संघटन और आन्दोलन करने की योग्यता भी बहुत अधिक है; और इसी लिए नानकिंग की सरकार सबसे अधिक इन विद्यार्थियो से ही डरती है।

महायुद्ध के उपरान्त उत्तरी चीन में तो केवल विद्यार्थी ही सन-यात-सेन के अनुयायी थे, लेकिन दक्षिणी चीन की सारी जनता उसकी पूरी भक्त हो गई थी। सन् १९१६ के बाद से ही प्रायः सारे देश मे कोमिन्टांग का बहुत अच्छा संघटन होने लगा था। सन् १९१९ तक वाम पार्श्ववालो ने सन-यात-सेन के विचारों का कोई विशेष विरोध नहीं किया था। लेकिन उसके बाद जब एशियाई रूस में भी रूसी सोविएट प्रजातन्त्र स्थापित हो गया और खासकर जब सन् १९१९ मे रूसियो के मुकाबले में जापानी सेना को साइबेरिया छोड़ कर पीछे हटना पड़ा, तब से चीनियो पर रूसियो का प्रभाव भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा और वे सोविएट रूस के भक्त होने लगे। नवयुवक चीनी विद्यार्थी अच्छी संख्या में शिक्षा प्राप्त करने के लिए रूस पहुँचने लगे और रूसी चर भी चीन मे कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। यहाँ तक कि सन् १९२० में चीन में कम्यूनिस्ट दल की भी स्थापना हो गई।

कोमिन्टांग और कम्यूनिस्ट—कुछ दिनों तक तो कम्यूनिस्ट और कोमिन्टांग दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध काम करते रहे। लेकिन सन् १९२३ मे चीन मे रहनेवाले रूसी प्रतिनिधि जोफे और सन-यात-सेन में समझौता हो गया और दोनों मिलकर काम करने लगे। यद्यपि कम्यूनिस्ट दल ज्यों का त्यों बना रहा, लेकिन फिर भी उस दल के बहुत से लोग कोमिन्टांग में सम्मिलित होने लगे। सन-यात-सेन ने यह घोषणा कर दी कि चीन अभी इस योग्य नहीं हुआ है कि यहाँ कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों के अनुसार काम किया जाय और जोफे ने भी यह बात मंजूर कर ली। इसके सिवा उसने यह भी कह दिया कि सारे चीन में एक ही राष्ट्रीय और स्वतन्त्र सरकार की स्थापना मे रूस पूरी-पूरी सहायता देगा। इसके बाद चीन में एक नया क्रान्तिकारी प्रजातन्त्र स्थापित करने में सहायता देने के लिए रूस से बोरोडिन नामक एक अधिकारी कैन्टन भेजा गया। और उसी के साथ चीन की नई क्रान्तिकारी सेना को सैनिक शिक्षा देने के लिए जनरल ब्लुचर भी आया। व्हामपोआ नामक स्थान में एक सैनिक-विद्यालय भी स्थापित हो गया और उसका प्रधान वह च्यांग-काई-शेक बनाया गया, जिसे सन-यात-सेन ने अपना दूत बना कर रूस भेजा था। इस प्रकार एक ऐसी नई संस्था तैयार हो गई थी जिससे एक नई शक्ति के नेता तैयार हो सकते थे। बोरोडिन के कहने पर कम्यूनिस्ट ढंग से कोमिन्टांग का राजनीतिक दृष्टि से फिर से-संघटन हुआ। लेकिन जान-बूझ कर गरीब किसानों और मजदूरों पर उसका आधार नहीं रक्खा गया था, क्योंकि तब तक उनका कोई अच्छा संघटन ही नहीं हो सका था। पर साथ ही मजदूरों और किसानो के संघ स्थापित करने का भी प्रयत्न आरम्भ हो गया था। प्रायः सारे दक्षिणी चीन में सोविएटो के ढंग पर मजदूरों और किसानों के संघ बनने

लग गये थे। दक्षिण मे दक्षिण पार्श्व के नेताओ ने चीन को रूसी साँचे में ढालने का बहुत विरोध किया था और इसके लिए उन लोगो ने कुछ सिर भी उठाया था; लेकिन सन् १६२४ मे उन लोगों का पूरा-पूरा दमन कर दिया गया।

उस समय तक कोमिन्टांग और कम्यूनिस्टो का जोर सिर्फ दक्षिणी चीन में ही था। उत्तरी चीन मे भी और यांग्ज़ी की तराई मे भी अधिकतर ऐसे सैनिक नेताओं का ही प्रभुत्व था जो प्रायः आपस मे लड़ते-झगड़ते रहते थे। जनरल फेंग तथा दूसरे उत्तरी नेताओं के साथ समझौता करने के लिए जब सन-यात-सेन पेकिन गया, तब वही मार्च १६२५ मे उसकी मृत्यु हो गई। उसके मरने के बाद कोई ऐसा नेता न रह गया जिसकी अधीनता सब लोग मान सकते और जिसके नेतृत्व मे क्रान्तिकारी आन्दोलन आगे बढ़ सकता। उस समय कुछ लोगों मे नेतृत्व और अधिकार के लिए आपस में झगड़ा होने लगा। एक ओर तो च्यांग-काई-शेक था जिसकी सहायता बोरोडिन करता था और दूसरी ओर सन-यात-सेन का प्रिय सहायक लायाओ-चुंग-काई था, जिसे पहले कम्यूनिस्टो ने नेतृत्व के लिए खड़ा किया था और जिसने कम्यूनिस्टो तथा कोमिन्टांग मे समझौता कराने में सबसे अधिक सहायता दी थी। लेकिन जब चुङ्ग-काई की हत्या कर डाली गई, तब च्यांग-काई-शेक इस नये आन्दोलन का नेता हो गया।

इस बीच में वाम पार्श्ववालो का आन्दोलन यांग्ज़ी तराई में भी और दक्षिणी चीन में भी खूब जोरों से चल रहा था। जगह-जगह श्रमिकों के संघ स्थापित हो रहे थे और कई हड़तालें भी हुई थीं, जिनमें से अधिकतर विदेशी पूँजीदारो के कारखानों में हुई थीं। अनेक स्थानो पर विदेशियों के विरुद्ध बड़े-बड़े प्रदर्शन भी होते थे। ३० मई १६२५ को अगरेज अफसरो की आज्ञा से

पुलिस ने हड़ताली प्रदर्शको पर गोलियाँ भी चलाई थी, जिससे सारे देश मे अँगरेजो के विरुद्ध एक जबरदस्त लहर उठ खड़ी हुई थी और ब्रिटिश माल का खूब जोरो से बहिष्कार होने लगा था। इस बहिष्कार के कारण चीन मे ब्रिटिश व्यापार को जो गहरा धक्का लगा था, उससे वह आज तक सँभलने नही पाया है। १६२६ में जब कि यह आन्दोलन खूब जोरों से चल रहा था, च्यांग-काई-शेक ने अपनी नवशिक्षित सेना को लेकर उत्तरी चीन पर चढ़ाई कर दी और वहाँ के स्थानिक सेनापतियों को मार भगाया और सब जगह कोमिन्टांग की नई क्रांति की घोषणा कर दी। सारे देश मे ईसाई मात्र के विरुद्ध आन्दोलन होने लगा और बहुत से स्थानो से पादरी भी भगा दिये गये। मध्य यांग्जी मे क्रान्तिकारियों ने चीनी कस्बो पर तो अधिकार कर ही लिया, पर साथ ही हांकाऊ के उन स्थानो पर भी अधिकार कर लिया, जिनमें विदेशियों को कुछ विशिष्ट अधिकार मिले हुए थे। ऐसे स्थानों में एक अधिक महत्त्व का वह स्थान भी था जिस पर अंगरेजो का विशेष अधिकार था। शंघाई में जो सार्वराष्ट्रीय बस्ती थी, उसमे इन क्रांतिकारियों के डर से बहुत-सी सार्वराष्ट्रीय सेनाएँ रक्खी गई। इन सेनाओ की सबसे बड़ी टुकड़ी ग्रेट ब्रिटेन की भेजी हुई थी। मार्च १६२७ में राष्ट्रीय सेनाओ ने नानकिंग पर भी अधिकार कर लिया, जो पहले उत्तरवालों के हाथ मे था। उस समय विदेशियो के मुहल्लो मे खूब लूट-मार हुई थी और कुछ विदेशी मारे भी गये थे। बाकी सभी विदेशियों को नानकिंग छोड़कर भागना पड़ा था। यांग्जी नदी मे जो अमेरिकन लड़ाई के जहाज थे, उन्हे चीन के राष्ट्रीय सैनिको पर इसलिए गोलेबारी भी करनी पड़ी थी, जिसमे वे उन विदेशियो पर आक्रमण न कर सके जो शहर छोड़कर भाग रहे थे।

इस नानकिंगवाली घटना के कारण ही नई चानी क्रान्ति का

विकास रुक गया और उसका रुख ही बिलकुल बदल गया। कोमिन्टांग मे दक्षिण पक्ष के जो लोग थे, वे इस घटना के कारण रूसियो के घोर विरोधी हो गये। वे लोग कहते थे कि रूसियो ने यहाँ विदेशियो के विरुद्ध जो आन्दोलन खड़ा किया था, उसी के कारण यह सारा उपद्रव हुआ है। तभी से च्यांग-काई-शेक का भाव भी बदल गया और चीनी महाजनो तथा व्यापारियों की आर्थिक सहायता तथा विदेशी पूँजीदारों के प्रोत्साहन से च्यांग-काई-शेक ने अपनी एक ऐसी मजबूत सरकार बनाई जो कम्यूनिस्टो की घोर विरोधी थी; और तब से वह रूसियों और उनके मददगारो को इस आन्दोलन से अलग करने लगा। शंघाई और दूसरे कई कस्बों में कम्यूनिस्टों के बड़े-बड़े कत्ले-आम हुए। कुछ ही हफ्तों के अन्दर कोमिन्टांग का फिर से संघटन हुआ। इस संघटन का नेता च्यांग-काई-शेक था और यह संघटन रूसियों का पूरा-पूरा विरोधी हो गया था। इसी बीच में बोरोडिन के नाम मास्को से आये हुए कुछ ऐसे पत्र भी पकड़े गये, जिनमे गुप्त रूप से यह संकेत किया गया था कि कोमिन्टांग मे जितने बड़े और अधिकार के पद है, वे सब कम्यूनिस्ट दल के सदस्य अपने हाथ मे ले ले; सन-यात-सेन के जो वाम पक्षवाले उत्तराधिकारी है, वे सब जगहो से हटा दिये जायँ; यांग्जी की तराई में कम्यूनिस्टो के नियंत्रण में मजदूरो और किसानो की नई सेना तैयार को जाय, बिना सरकार से पूछे ही सब किसान अपनी जमीन पर पूरा-पूरा अधिकार कर ले; और ऐसा रास्ता तैयार किया जाय जिसमे कम्यूनिस्ट दल आगे चलकर कोमिन्टांग को पूरी तरह से दबा सके। इन्हीं सब बातो के कारण उस समय सब चीनी रूसियो के घोर विरोधी और शत्रु हो गये थे। बोरोडिन ने ये सब बाते बिलकुल गुप्त रखी थी, क्योंकि वह जानता था कि यदि इन सूचनाओ के अनुसार सब काम करने का

प्रयत्न किया जायगा, तो भारी आफत खड़ी हो जायगी। लेकिन जब ये सब बाते खुल गई, तब कोमिन्टांग के वाम पार्श्ववाले नेता रूसियो के विरोधी हो गये और च्यांग-काई-शेक ने बिना किसी विशेष विरोध के अपना पूरा-पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

अब चीन के दक्षिण पार्श्ववाले भी च्यांग-काई-शेक के मददगार हो गये और वे विदेशी सरकारे भी उसकी सहायता करने लग गई, जो यह समझती थीं कि चीन को कम्यूनिस्टों के चुंगुल से इसीने बचाया है। इसी लिए सन् १९२७ के बाद से च्यांग-काई मजे में नानकिंग में शासन करने लगा। उसे प्रसन्न करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन ने अपने वे विशेष अधिकार भी छोड़ दिये जो उसे हांकाऊ में मिले थे। अमेरिकन संयुक्त राज्यो ने भी आयात और निर्यात पर कर लगाने की उसे पूरी स्वतन्त्रता दे दी; वे सब सन्धियाँ भी फिर से दोहराकर ठीक कर दी जो चीन के साथ समानता का व्यवहार करने में बाधक होती थीं; और उसे यह भी विश्वास दिला दिया कि कुछ स्थानो मे हम लोगो को जो विशेष अधिकार प्राप्त हैं, उनका भी हम परित्याग कर देंगे। रूस तथा कुछ दूसरे देशों ने यह घोषणा भी कर दी है कि अमुक-अमुक स्थानो पर से हम अपना विशेष अधिकार हटा लेते हैं। इससे दूसरे देशो को भी विवश होकर चीन के साथ नरमी का बरताव करना पड़ा। परन्तु विशिष्ट क्षेत्रों के विशिष्ट अधिकार का यह प्रश्न अब भी बहुत से अंशों मे पहले की ही तरह बना हुआ है। सन् १९३० मे नानकिंग की सरकार ने यह घोषणा तो कर दी थी कि अब हमारे किसी क्षेत्र मे किसी विदेशी सरकार को कोई विशेष अधिकार न रहेगा। लेकिन जब बड़ी-बड़ी शक्तियो का उस पर दबाव पड़ा, तब उसने विवश होकर इस निश्चय के अनुसार काम करना रोक दिया। जबसे नानकिंग की सरकार ने रूसियों को दूर हटा दिया, तब

से विदेशी सरकारें च्यांग-काई-शेक को एक दृढ़ सरकार स्थापित करने के लिए ऋण देने लगीं और सुधारों के बड़े-बड़े वादे किये जाने लगे। सन् १९२७ से १९३० तक नानकिंग की सरकार ने प्रायः पाश्चात्य ढंग के बहुत से नये-नये कानून बनाये और इस बात का प्रयत्न आरम्भ किया कि सारे देश में न्याय की व्यवस्था एक सी हो और विदेशी शक्तियों की प्रजा को अपने लिए विशेष अधिकार माँगने का अवसर न रह जाय। अब फिर से चीन में और विशेषतः शंघाई में विदेशी पूँजी से नये-नये कल-कारखाने खुलने लगे और आयात तथा निर्यात पर कर लगाने की स्वतन्त्रता मिल जाने के कारण नानकिंग सरकार के लिए आय का एक और द्वार खुल गया। पहले विदेशी शक्तियों के साथ चीन की जो सन्धियाँ हुई थीं, उनके अनुसार विदेशों से वहाँ जानेवाले माल पर पाँच रुपये सैंकड़े से अधिक चुंगी नहीं लग सकती थी; पर अब नानकिंग की सरकार यह चुंगी बढ़ा सकती थी। लेकिन जितना धन सरकार के हाथ में आता था, उसका बहुत बड़ा अंश सेना-विभाग के लिए ही व्यय होता था। इसका कारण यही था कि देश के बहुत बड़े भाग पर च्यांग-काई-शेक की सरकार का कोई विशेष नियन्त्रण नहीं था; और बिना सैनिक बल की सहायता के नानकिंग की सरकार का काम एक दिन भी नहीं चल सकता था। इसके सिवा कियांग्सी और यांग्जी प्रान्तों में जो सोविएटें स्थापित हो चुकी थीं, उन पर आक्रमण करने के लिए भी च्यांग को और अधिक सेना की आवश्यकता थी। उसके पास इतने सिपाही ही नहीं थे जो जापान के साथ लड़ सकते। उत्तरी चीन के सेनापतियों ने मंचूरिया पर जो चढ़ाई की थी, उसकी सहायता के लिए भेजने को भी उसके पास सेना नहीं थी। सन् १९३२ में शंघाई में चीनियों ने जापानियों का जो डटकर और वीरता-

पूर्ण विरोध किया था, उनमे दक्षिण की ऐसी ही सेनाएँ थीं जो च्यांग-काई-शेक अथवा उसकी सरकार की मित्र नही थी। यद्यपि आरम्भ में उसने कैन्टनवालो की सहायता से ही और उन्हीं के बल पर सारे चीन में कोमिन्टांग का आन्दोलन चलाना चाहा था, लेकिन फिर भी जब वह वाम पार्श्व से हटकर दक्षिण पार्श्व मे चला गया, तब दक्षिणी चीन के निवासियो ने उसे सहायता देना बन्द कर दिया। कैन्टन भी यद्यपि नाम मात्र के लिए नानकिंग की अधीनता मानता था, पर फिर भी इधर बहुत दिनों से वह प्रायः स्वतन्त्र ही चला आ रहा है।

चीन का संघटन—यही कारण है कि नानकिंग की सरकार के संघटन-विधान में तो कुछ और ही प्रकार की बाते लिखी हुई हैं और वह प्रणाली उससे बिलकुल भिन्न है जिसके अनुसार चीन का शासन होता है। वास्तव में नानकिंग की सरकार का स्वरूप कुछ ऐसा ही रक्खा गया था कि वह सारे देश का शासन कर सके। सारे देश मे कोमिन्टांग ने ही राष्ट्रीय क्रान्ति की थी और इस नई सरकार में इसी लिए सब अधिकार भी उसी दल के हाथ में रक्खे गये थे। सन् १९२७ के बाद कुछ दिनो के लिए कोमिन्टांग पर दक्षिण पार्श्ववालों का ही पूरा-पूरा अधिकार हो गया था। सन् १९२८ मे वहाँ का जो संघटन-विधान बना था, वह इसी दल की राष्ट्रीय महासभा में स्वीकृत हुआ था। यह विधान उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर बना था, जो सन-यात-सेन ने अपने टेस्टामेन्ट मे स्थिर किये थे। चीनी राष्ट्रीय दलवालों के लिए यह टेस्टामेन्ट एक पूज्य धर्म-पुस्तक के रूप में हो गया था। दल की सभाओं में जोर-जोर से इसका पाठ किया जाता था और इसकी व्याख्याएँ की जाती थीं; लेकिन इसके सिद्धान्तों के सम्बन्ध मे कभी कोई वाद-विवाद नहीं होता था। इस संघटन-विधान के अनुसार यह निश्चय हुआ था कि

शासन के सब काम करने के लिए पॉच काउन्सिले रहे। यथा—पहली एक्जिक्यूटिव या कार्यकारिणी, दूसरी लेजिस्लेटिव या कानून बनानेवाली, तीसरी जुडीशल या न्याय की व्यवस्था करनेवाली, चौथी एक्ज़ामिनिंग या परीक्षाओ की व्यवस्था करनेवाली और पाँचवीं कन्ट्रोलिंग या नियन्त्रण रखनेवाली। ये काउन्सिले मन्त्री-मंडल से बिलकुल अलग हैं और मन्त्री-मंडल के सदस्य ही भिन्न-भिन्न काउन्सिलों के सभापति और उप-सभापति होते हैं और वही राज्य के भिन्न-भिन्न महकमो के प्रधान भी होते हैं। शासन-सम्बन्धी सब कार्यों के लिए एक्जिक्यूटिव काउन्सिल की ही आज्ञा मानी जाती है। यही मन्त्री-मंडल भी स्थापित करती है, उनके कर्त्तव्य भी निश्चित करती है और उनके कामो की देख-रेख भी करती है। कानून बनाने का सब काम लेजिस्लेटिव काउन्सिल के हाथ में है। एक्जिक्यूटिव काउन्सिल सब तरह के कानूनो के मसौदे, सन्धियाँ और आय-व्यय का सालाना लेखा तैयार करके लेजिस्लेटिव काउन्सिल में भेजती है और लेजिस्लेटिव काउन्सिल उन्हें मंजूर कर सकती है, उनमे सुधार या परिवर्त्तन कर सकती है और आवश्यकता समझने पर उन्हे ना-मंजूर भी कर सकती है। तात्पर्य यह कि यही काउन्सिल एक प्रकार से पार्लमैण्ट के सब काम करती है। लेकिन अन्यान्य सभी काउन्सिलो की तरह इस काउन्सिल के सदस्य भी कोमिन्टांग के द्वारा ही नामांकित होते हैं और इनका कोई सार्वजनिक निर्वाचन नहीं होता। अदालतों पर पूरा-पूरा नियन्त्रण जुडीशल काउन्सिल का रहता है। इधर कुछ बरसो में वहाँ जो बड़े कानून बने हैं, कम-से-कम कहने के लिए वे सब इसी काउन्सिल के बनाये हुए हैं। चीन मे बहुत पुराने जमाने से सरकारी पदो के लिए कई तरह की बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ चली आ

रही हैं; और यह आशा की जाती है कि आगे चलकर देश में चाहे जिस प्रकार की शासन-प्रणाली स्थापित हो, परन्तु सरकारी पदों के लिए ये परीक्षाएँ बराबर बनी ही रहेंगी। इन्हीं सब परीक्षाओं की व्यवस्था करने के लिए वहाँ एक्जामिनिंग काउन्सिल बनी है। जबतक कोई व्यक्ति इस काउन्सिल के द्वारा नियत की हुई परीक्षा में उत्तीर्ण न हो, तब तक वह किसी सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। अलग-अलग पदों के लिए अलग-अलग प्रकार की परीक्षाएँ हैं। कन्ट्रोलिंग काउन्सिल समस्त सरकारी नौकरियों की व्यवस्था करती है और सब सार्वजनिक लेखे भी वही जाँचती है। बस यही वह पँचहरी प्रणाली है, जिस पर कम-से-कम सिद्धान्ततः आज-कल चीन का सारा शासन और संघटन-विधान आश्रित है।

परन्तु यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन सब काउन्सिलों के सदस्य निर्वाचित नहीं होते, बल्कि नामांकित होते हैं। इनके सदस्य तभी तक अपने पद पर रह सकते हैं, जबतक कोमिन्टांग उन्हें रखना चाहे या रहने दे। आज-कल जिस चीन का नानकिन से शासन होता है, वह सिद्धान्ततः उसी प्रकार का एक-दलीय राज्य है, जिस प्रकार का इटली, जर्मनी या सोवियट रूस मे है। परन्तु कार्य रूप में इस प्रणाली में उक्त देशो की प्रणालियों से बहुत अन्तर पड़ जाता है। यद्यपि कोमिन्टांग दल के सभी लोग यह मानते हैं कि हम सन-यात-सेन के स्थिर किये हुए सिद्धान्तों पर ही चलते हैं, परन्तु मूल सिद्धान्त के सम्बन्ध में वे लोग उस प्रकार एक-मत नहीं हैं, जिस प्रकार फैसिस्ट, नाजी या कम्यूनिस्ट दल के सब सदस्य एक-मत होते हैं। कम्यूनिस्टों के निकाल दिये जाने पर भी कोमिन्टांग में कई ऐसे दल मौजूद हैं जो अक्सर आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं।

उस मे बहुत से ऐसे व्यापारी और महाजन भी है जो साम्यवाद के कट्टर दुश्मन है; और पाश्चात्य देशो मे शिक्षा पाये हुए ऐसे लोग भी हैं जो सभी प्रकार के उदार विचार रखते हैं और साम्यवादी सिद्धान्तो के भी भक्त है। उसमे ऐसे किसान और मजदूर भी है जो अपनी सभी प्रकार की आर्थिक कठिनाइयाँ तुरन्त ही दूर करना चाहते हैं; और ऐसे सैनिक नेता भी है जो केवल नानकिंग के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के कारण ही अपने प्रान्तो को ठीक तरह से अपने नियन्त्रण मे रख सकते है। मतलब यह कि एक कम्यूनिस्टो को छोड़कर चीन मे राष्ट्रीयता के जितने प्रकार के पक्षपाती है, वे सभी कोमिन्टांग मे मौजूद हैं। कोमिन्टांग की जितनी बड़ी-बड़ी सभाएँ और जलसे होते हैं, उनमें प्रायः सभी वर्गो और दलो के प्रतिनिधि रहते हैं और उन सब को आपस मे लड़ा-भिड़ाकर ही च्यांग-काई-शेक को अपने सब काम निकालने पड़ते है। च्यांग-काई-शेक के हाथ में सब अधिकार इसलिए है कि देश का सबसे बड़ा सैनिक बल उसके अधिकार मे है। वाम पक्षवाले च्यांग-काई-शेक के विरोधी हैं और उन्हे अधिकांश सहायता दक्षिणी चीन से मिलती है। भिन्न-भिन्न दलो मे वहाँ केवल साधारण विरोधी ही नही होता, बल्कि सदा उनमे गृह-युद्ध छिड़ने की भी सम्भावना बनी रहती है। और तमाशा यह है कि सभी दल यह भी कहते हैं कि हम सन-यात-सेन के सिद्धान्तो को पूरी तरह से मानते है। हमेशा इस बात का डर बना रहता है कि कोमिन्टाग कही छिन्न-भिन्न न हो जाय। सन् १९३३ के अन्त मे यूजेन-चेन के नेतृत्व में कई फूकियन नेता इस दल से बिलकुल अलग हो गये थे और वह उन्नीसवी सेना उनकी मदद पर थी, जिसका काम शंघाई की रक्षा करना था। उस समय वे लोग यही देखना चाहते थे कि च्यांग-काई-शेक का विरोध करने के लिए कैन्टन के नेता

हमारा साथ देते हैं या नहीं। लेकिन कैन्टनवालो ने उनका साथ नहीं दिया और फूकियन विद्रोह का चुपचाप दमन हो जाने दिया। लेकिन फिर भी निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता था कि कैन्टनवाले किसी अवसर पर नानकिंग की सरकार के साथ लड़ नहीं जायँगे।

चीन का भविष्य—एक तो कोमिन्टांग में सदा दलों के झगड़े-बखेड़े होते रहते हैं, दूसरे उसका वास्तविक और पूरा अधिकार भी केवल कुछ ही प्रान्तों पर है। तिस पर मध्य चीन मे उसे बराबर कम्यूनिस्टो के साथ लड़ना पड़ता है; उसकी सारी आय सैनिक कार्यों में लगती रहती है; और स्वतन्त्र प्रान्तों के गवर्नर अपने यहाँ का एक पैसा भी जल्दी नानकिंग सरकार के खजाने में नही जाने देते। इन सब बातो को देखते हुए यदि नानकिंग की सरकार चीन की सामाजिक और आर्थिक दशा में कुछ भी सुधार न कर सकी हो तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है। फिर इधर कई बरसो से उसे मंचुको के लिए जापान के साथ बराबर कुछ-न कुछ लड़ाई भी लड़नी ही पड़ती है। जापानी सेना चीन की बड़ी दीवार पहले ही पार कर चुकी थी और पेकिन के दरवाजो तक पहुँच चुकी थी; और इसलिए कोई नहीं जानता था कि वह कब भीतरी मंगोलिया या उत्तरी चीन पर आक्रमण कर बैठेगी। और इधर तीन बरसो से तो जापान ने चीन के साथ पूरा-पूरा युद्ध ही छेड़ रक्खा है। इस बीच में चीन का प्रायः दो तृतीयांश जापानी सेना द्वारा पद-दलित हो चुका है और कई प्रान्तो मे जापान ने अस्थायी सरकारें भी स्थापित कर रक्खी हैं। वहाँ के अधिकांश स्थानो पर जापानी हवाई जहाजों ने खूब गोले बरसाये हैं; और जहाँ तक हो सका है, देश को खूब तहस-नहस किया है। च्याँग-काई-शेक की सरकार जैसे-तैसे उसका मुकाबला किये चलती है। पहले आशा तो यही थी कि

चीन पर बहुत जल्दी जापान का अधिकार हो जायगा। लेकिन फिर भी चीनी प्रजा जापानियो का अच्छा सामना कर रही है। जिन स्थानो पर जापानी सेनाएँ अधिकार कर चुकी हैं, उन स्थानो की चीनी प्रजा भी जापानियो को तंग करती रहती है। कभी जापानी सेनाएँ हल्ला करके बहुत आगे तक जा पहुँचती हैं और कभी अनुकूल अवसर पाकर चीनी सेनाएँ उन्हें दूर तक खदेड़ आती हैं। यही अवस्था आज-कल चल रही है। कोई यह नही कह सकता कि इसका कब और कैसे अन्त होगा। परन्तु जापान सारे चीन पर अधिकार कर लेना जितना सहज समझता था, उसकी अपेक्षा वह उसे अब कहीं अधिक कठिन प्रतीत हो रहा है। जिन महाशक्तियों ने चीन की रक्षा की जिम्मेदारी ली थी, वे भी चुपचाप बैठी तमाशा देख रही हैं। चीन ने अब तक कई बार राष्ट्र-संघ में जापान की शिकायतें कीं और कई बार उससे सहायता की प्रार्थना की, लेकिन कुछ भी परिणाम नही हुआ।

च्यांग-काई-शेक के पास बहुत बड़ी सेना है, जिसमें लाखों सिपाही है। उसे स्वयं भी अच्छी सैनिक शिक्षा मिली है। अपने यहाँ से रूसियों को निकालने के बाद उसने बहुत से जर्मनों को ऊँचे ओहदों पर रक्खा था, जिनसे वह प्रायः परामर्श लिया करता था। लेकिन यह भी कहा जाता है कि चीनी सेनाएँ लड़ाई के काम के लिए ठीक नहीं होतीं। चीनी सैनिक बहुत जल्दी युद्ध-क्षेत्र से भाग जाते हैं। यहाँ तक कि जिस समय लड़ाई होती रहती है, उस समय भी प्रायः बड़े-बड़े सेनापति अपने समस्त सैनिकों के साथ एक पक्ष को छोड़कर दूसरे पक्ष मे जा मिलते हैं। चीन में लोग प्रायः अपना पेट भरने के लिए ही फौज मे भरती होते हैं, क्योकि वहाँ भोजन मिलना प्रायः बहुत ही कठिन होता है। वे न तो लड़ने के लिए ही फौज में भरती

होते है और न देश-प्रेम की प्रेरणा से सैनिक बनते हैं। उन्हे तो पेट भरने के लिए भोजन चाहिए। प्राय: ऐसा भी होता है कि जब कुछ दिनो तक सैनिको की तनख्वाह रुक जाती है, तब वे आस-पास के देशो में लूट-पाट भी शुरू कर देते है। वहाँ की सेना में कुछ अच्छे सैनिक भी हैं, लेकिन अधिकतर सैनिक ऐसे ही है जिन पर या तो भरोसा ही नही किया जा सकता और या जिनके पास लड़ाई का पूरा सामान ही नही होता। प्रान्तीय सेनाओ के पास प्राय: पूरी बन्दूकें और गोले आदि भी नही होते। विशेषत: कम्यूनिस्ट सेनाओ के पास तो लड़ाई के सामान की और भी कमी रहा करती थी। उनका काम उसी सामान से चलता था जो वे अपने शत्रुओ से छीना करती थीं। इधर कुछ दिनों से च्यांग-काई-शेक को विदेशो से कुछ ऋण भी मिल रहा है और लड़ाई के सामान की भी मदद मिल रही है। तो भी सारे देश की भाँति उसकी सेनाएँ भी न तो अधिक व्यवस्थित ही हैं और न अधिक संघटित ही। इतना होने पर भी वह जो बराबर जापान का मुकाबला करता चलता है, यह आश्चर्य है।

बहुत से लोगो का बहुत दिनो से बराबर यही विश्वास चला आता था कि चीनी सैनिक लड़ाई के काम के नहीं होते। लेकिन जब जापानियो ने शंघाई पर आक्रमण किया था, तब दक्षिणी चीन की सेनाओं ने जिस तरह जमकर उनका मुकाबला किया था, उसे देखकर सारा संसार चकित हो गया था। स्वयं जापानी भी उनकी वीरता देखकर दंग हो गये थे। अगर उन्हे पहले से मालूम होता कि यहाँ चीनी सैनिक इस तरह बहादुरी से हमारा मुकाबला करेंगे, तो वे शायद उन पर चढ़ाई ही न करते। और सबसे बढ़कर तो इस बात से स्वयं चीनियो को ही आश्चर्य हुआ था। लेकिन दक्षिण की ये सेनाएँ अपवाद-स्वरूप थी। जिस समय जापानी सेना ने मंचुको पर चढ़ाई की थी, उस

समय उत्तरी चीन की सेनाएँ उसके सामने बिल्कुल ठहर नही सकी थीं। लेकिन् शंघाई में चीनियो ने अवश्य ही यह सिद्ध कर दिखलाया था कि अच्छी सैनिक शिक्षा मिलने पर और लड़ाई का काफी सामान पास होने पर वे क्या कुछ कर सकते हैं। लेकिन फिर भी अभी पूरी तरह से सैनिक कार्यों के लिए चीनी उपयुक्त नहीं हो सके हैं। अभी उनमें उन गुणो का बहुत कुछ अभाव है जो योद्धाओं मे और विशेषतः आज-कल के योद्धाओं में होने चाहिएँ। लेकिन हाँ, शंघाईवाले झगड़े ने भी और इस युद्ध ने भी, जो इधर दो वरसो से चीन और जापान मे हो रहा है, यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी है कि जिस काम के लिए चीनी लड़ना चाहते है, वह काम अगर उनके मन के मुताबिक हो, तो फिर वे जरूर ही खूब अच्छी तरह लड़ सकते हैं।

इस समय तो चीन मे हर जगह राजनीतिक और सामरिक गड़बड़ी ही मची हुई है। इधर सौ बरसो से कई पाश्चात्य साम्राज्यवादी शक्तियाँ उसे खूब लूट और नोच-खसोट रही हैं। जब जिसे जहाँ मौका मिलता है, तब वह वहाँ का कुछ-न-कुछ हिस्सा किसी-न-किसी तरह अपने कब्जे मे कर लेता है। बहुत से पाश्चात्य देशो ने वहाँ अपने-अपने अलग प्रभाव-क्षेत्र बना रक्खे हैं और उसके बहुत से हिस्से अपने राज्य में मिला भी लिये हैं। बहुत से स्थानो मे विदेशियो ने अपने लिये विशेष अधिकार भी प्राप्त कर लिये हैं और वहाँ अपनी बस्तियाँ भी बसा ली है। यूरोपवालों ने वहाँ पहुँचकर ये सब बाते ठीक उसी तरह की हैं, जिस तरह किसी बर्बर और असभ्य देश में पहुँचकर की जाती हैं। जारशाही के जमाने मे रूस ने मंचूरिया पर अधिकार कर रक्खा था, मंगोलिया मे भी वह कुछ दूर तक पहुँच गया था; और लक्षणो से ऐसा मालूम होता था कि सारे

उत्तरी चीन पर उसका अधिकार हो जायगा। लेकिन जापान ने उक्त स्थानों से रूसियो को मार भगाया और स्वय वहाँ अधिकार कर लिया। अँगरेजो ने हांगकांग अपने राज्य मे मिला लिया और यह कहना शुरू किया कि यांग्जी हमारे प्रभाव-क्षेत्र में है। फ्रांसीसियों ने पहले तो दक्षिण-पश्चिम में इंडो-चीन पर अधिकार कर लिया और तब वहाँ से चीन के मध्य भाग मे प्रवेश करना चाहा था। जापान ने पहले तो फारमोसा और कोरिया ले लिया और तब शान्टुङ्ग पर से जर्मनो का अधिकार हटाकर वहाँ अपना अधिकार कर लिया और फिर मंचूरिया और जेहोल भी अपने हाथ मे ले लिया। एक अमेरिकन ही ऐसे थे जिन्होंने चीन के किसी प्रदेश पर अधिकार नही किया था और जो बिना अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किये वहाँ केवल अपना व्यापार ही बढ़ाते थे। अमेरिकन यह चाहते थे कि सारे चीन मे मुक्त-द्वारवाली नीति का पालन हो और सब जगह सभी देशो को व्यापार करने का समान रूप से अधिकार हो, किसी विशिष्ट क्षेत्र में किसी महा-शक्ति को कोई विशेष अधिकार न मिले। यूरोपीय महा-युद्ध के समय कुछ दिनो के लिए परिस्थिति कुछ बदल गई थी, क्योकि चीन पर से विदेशी शक्तियो का दबाव हट गया था। लेकिन जैसा कि जापान की सन् १९१५ वाली इक्कीस माँगो से स्पष्ट सिद्ध होता है, यूरोपीय शक्तियो का दबाव हटते ही वह चीन के सिर पर आ सवार हुआ। युद्ध के बाद कुछ दिनो तक तो जापान को इसलिए आगे बढ़ने का साहस नहीं होता था कि यूरोप की सभी शक्तियाँ अमेरिकन संयुक्त राज्यो के साथ मिलकर हमारा विरोध करेंगी; और चीन के बाजारो में फिर से अपना सिक्का जमाने के लिए ग्रेट-ब्रिटेन को बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ा था। लेकिन जब सारे संसार मे व्यापार की मन्दी आई और उसके बाद ही यूरोप में

इटली और जर्मनी प्रबल होने लगे और सब को एक नये महायुद्ध की आशंका होने लगी, तब यूरोपियन शक्तियाँ भी और संयुक्त राज्य भी स्वयं अपने ही यहाँ की व्यवस्था मे इतने व्यस्त हो गये कि किसी को सुदूर पूर्व की ओर देखने का अवसर ही नही मिलता था। इस प्रकार जापान को अपनी उच्चाकांक्षाऍ पूरी करने का बहुत अच्छा अवसर मिल गया। पहले तो उसने मंचूरिया पर अधिकार कर लिया। राष्ट्र संघ के सामने चीन फरियाद ही करता रह गया और अमेरिकन संयुक्त राज्य उसकी फरियादों का समर्थन भी करते रहे, लेकिन उन फरियादो की जब कहीं कोई सुनवाई नही हुई और जापान ने अच्छी तरह देख लिया कि अब कोई पाश्चात्य शक्ति चीन के मामले मे दखल नहीं देगी, तब उसने चीन के साथ वह युद्ध छेड़ दिया जो इधर तीन बरसो से बहुत कुछ भीषण रूप से चल रहा है और जिसके कारण चीन की दो-तिहाई जमीन जापानी सैनिको के पैरो तले रौंदी जा रही है।

इन सब बातो से पता चलता है कि पहले तो कई यूरोपीय महाशक्तियाँ चीन की शत्रु थीं, लेकिन इधर कुछ दिनों से केवल जापान ही उसका सबसे बड़ा शत्रु हो रहा है। इधर जापानवालो का यह विचार दिन-पर-दिन बढ़ता जाता है कि एशिया के सब देशो को मिलकर एक हो जाना चाहिए; और जापान का कर्त्तव्य है कि वह सुदूर पूर्व को पाश्चात्य शक्तियो के प्रभुत्व से निकाल कर स्वतन्त्र करे। चीन के कुछ लोगो को भी यह विचार अच्छा लगता है। वे सोचते है या तो हमे जापान के साथ समझौता करना पड़ेगा और उस की मुख्य-मुख्य बातें माननी पड़ेंगी और या सोविएट रूस के हाथ मे फँसना पड़ेगा; और इन दोनो में वे जापान को इसलिए अच्छा समझते है कि कम्यूनिस्टो से उन्हे बहुत डर लगता है। लेकिन एक पक्ष वहाँ

ऐसा भी है जो न तो जापान की अधीनता ही स्वीकृत करना चाहता है और न सोविएट रूस के अधिकार में ही जाना चाहता है। वह स्वतन्त्र रूप से अपना विकास करना चाहता है। अमेरिका के संयुक्त राज्य यदि प्रशान्त महासागर पार करके सुदूर पूर्व में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहें तो बिना यूरोपीय महाशक्तियों की सहायता के ऐसा नहीं कर सकते। और यूरोपवालों के सिर खुद ही इतने बड़े-बड़े झगड़े आ पड़े हैं कि वे चीन के लिए जापान के साथ लड़ नहीं सकते। बहुत दिनों से लोग यह समझते आ रहे थे कि चीन को या तो जापान के हाथ पड़ना पड़ेगा और या सोविएट रूस के हाथ। सोविएट रूस एक बार चीन में धोखा खा चुका है और अपनी षड़यन्त्रवाली प्रवृत्ति के कारण बहुत से चीनियों को अपना शत्रु बना चुका है। यह ठीक है कि आज-कल सोविएट रूस की वह नीति नहीं है जो सन् १६२७ में थी और जिसके अनुसार बोरोडिन के पास मास्को से गुप्त आज्ञाएँ आई थीं। लेकिन फिर भी उसके उस कार्य ने चीनियों के मन में भय और आशंका तो उत्पन्न कर ही दी है। अब तो सोविएट रूस की नीति प्रायः यही रहती है कि जहाँ तक हो सके, दूसरों की बातों में दखल न दिया जाय। लेकिन जापान के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। एक तो उसे अपनी प्रजा को बसाने के लिए स्थान चाहिए; दूसरे अपनी आर्थिक अवस्था सुधारने के कुछ साधन चाहिएँ। और तीसरे एशिया और विशेषतः पूर्वी एशिया में वह अपना पूरा-पूरा प्रभुत्व भी स्थापित करना चाहता है। और इन्हीं सब कारणों से उसने जर्मनी और इटली के साथ समझौता करके युरोपीय शक्तियों को तो उधर युरोप की समस्याओं मे फँसा दिया है और स्वयं इधर चीन पर चढ़ाई कर दी है। लेकिन अभी यह भी नहीं कहा जा सकता कि चीन का इस प्रकार जापान के

हाथ मे चला जाना सोविएट रूस चुपचाप देखता रहेगा और इस के प्रतिकार का कोई उपाय न करेगा। बहुत सम्भव है कि कोई उपयुक्त अवसर देखकर वह जापान के हाथ से चीन को छुड़ाने का भी कोई प्रयत्न करे। वस्तुतः चीन के भविष्य पर संसार के अनेक देशो का भविष्य निर्भर है। यदि चीन पर जापान का प्रभुत्व पूरी तरह से स्थापित हो गया, तो सम्भवतः समस्त पूर्वीय एशिया और कदाचित् भारत में भी सैनिक साम्राज्यवाद की तूती बोलने लगेगी और फिर यह आशा नहीं रह जायगी कि संसार के सब देश एक साथ मिलकर शान्तिपूर्वक रह सकेंगे। उस अवस्था में कोई नई शान्तिमयी राजनीतिक व्यवस्था बहुत दूर जा पड़ेगी। इसके विपरीत यदि सोविएट रूस को चीन मे भी सोविएट शासन-प्रणाली स्थापित करने मे सफलता हुई तो फिर युरोप के बहुत बड़े भाग में भी और भारतवर्ष मे भी कम्यूनिस्ट सिद्धान्तों की विजय होगी।

इधर वर्त्तमान युरोपीय युद्ध के समय जब जापान ने देखा कि इंग्लैण्ड आत्म-रक्षा की चिन्ता मे बुरी तरह ग्रस्त है, तब उसने इंग्लैण्ड पर दबाव डालकर बरमा के रास्ते चीन तक युद्ध-सामग्री का भेजा जाना बन्द करा दिया। और जब फ्रान्स ने जर्मनी के आगे हथियार डाल दिये, तब वह इस बात के प्रयत्न में लगा है कि इंडो-चीन हमारे हाथ मे आ जाय और हम वहाँ पहुँचकर दक्षिण-पश्चिम के रास्ते भी चीन पर आक्रमण कर सके और वहाँ अपने सैनिक अड्डे भी कायम कर सके। जर्मनी भी फ्रान्स पर इस बात के लिए दबाव डाल रहा है कि वह इंडो-चीन के सम्बन्ध मे जापान की माँगे पूरी करे। पर फ्रान्स जानता है कि जब एक बार इंडो-चीन में जापान की सेना पहुँच जायगी, तब वह देश सदा के लिए हमारे हाथ से निकल जायगा। इसी लिए वह राज़ी नहीं हो रहा है। अभी

बात-चीत चल रही है। पर लक्षणो से जान पड़ता है कि इस मामले मे फ्रान्स को दबना पड़ेगा; और उस अवस्था में चीन पर और एक तरफ से आक्रमण होने लगेगा।

: ५ :

ब्रिटिश भारत की राजनीतिक प्रणाली

इस पुस्तक में अब तक जितने देशो की राजनीतिक प्रणालियो का वर्णन किया गया है, वे सब स्वतंत्र देश हैं। उनका सारा शासन स्वयं उन्हीं देशों के निवासियों के हाथ में है। लेकिन अब हम भारतवर्ष के सम्बन्ध की भी कुछ बातें बतलाना चाहते हैं, जो परतन्त्र होने पर भी कई दृष्टियों से बहुत महत्व रखता है। पहली बात तो यह है कि एक चीन को छोड़कर संसार में और कोई ऐसा देश नही है जो आबादी मे भारत की बराबरी कर सके। और दूसरी बात यह है कि इस देश में एक साम्राज्यवादी शक्ति की स्थापित की हुई एक ऐसी सरकार है जो इस देश के निवासियों के सामने उत्तरदायी नहीं है। भारतवर्ष कम-से-कम इस बात का अवश्य ही एक अच्छा उदाहरण उपस्थित करता है कि दूर देश की कोई सरकार एक बहुत बड़े देश को किस प्रकार अपने नियन्त्रण मे रखती है। लेकिन इसका यह मतलब भी नहीं है कि भारत मे औपनिवेशिक शासन अपने आदर्श रूप में दिखाई देता है। वास्तव मे इस प्रकार के शासन का कोई आदर्श या निश्चित रूप हो ही नहीं सकता। कई महाशक्तियों के बड़े-बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य हैं और उन उपनिवेशो में भिन्न-भिन्न संस्कृतियो तथा सभ्यताओ के लोग रहते हैं। फिर सब उपनिवेशो और देशो की अवस्थाएँ भी एक-सी नहीं होतीं। इसलिए किसी देश का शासन नमूने का

काम नहीं दे सकता। परन्तु संस्कृति, सभ्यता और जन-संख्या आदि के विचार से भारत का एक विशेष महत्व है और उसके भविष्य का भी संसार के भविष्य पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ सकता है। और इसी लिए ब्रिटिश भारत की राजनीतिक व्यवस्था के सम्बन्ध की कुछ मुख्य-मुख्य बाते यहाँ बतलाई जाती है।

भारतवर्ष दो भागो मे विभक्त माना जा सकता है। उसका एक भाग तो वह है जो प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन के अधीन है और दूसरा भाग वह है जिस मे देशी राजाओ के राज्य हैं। देशी रियासतों मे सात-आठ करोड़ आदमी बसते हैं। लेकिन हम इस प्रकरण मे केवल ब्रिटिश भारत की राजनीतिक अवस्था का वर्णन करना चाहते है। ब्रिटिश भारत मे अनेक प्रकार की समस्याएँ हैं। पहली बात तो यह है कि सारे भारत मे एक ही तरह के लोग नही बसते। भिन्न-भिन्न प्रान्तो के निवासियो की भाषा और रहन सहन आदि मे बहुत भेद है। यहाँ जाति-पाँति के भी बहुत से झगड़े हैं और अनेक प्रकार के धार्मिक तथा सामाजिक भेद भी है। इन सब बातो के कारण कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि भारत कोई राष्ट्र नही है, बल्कि एक छोटा सा महादेश है जिसमे तरह-तरह के लोग बसते हैं। परन्तु यह बात बहुत से अंशो में ठीक नही है। सारे भारत मे भौगोलिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि अनेक प्रकार की ऐसी एकताएँ है जो हजारो बरसो से चली आ रही हैं। बहुत विस्तृत देश होने के कारण स्वभावत: उसमें अनेक प्रकार के विभेद देखने में आते हैं; परन्तु उन सब भेदो के मूल मे एक ऐसी एकता है जिसका अनुभव सभी प्रान्तो के लोग समान रूप से करते है। तिस पर अब तो पाश्चात्य जातियो के संसर्ग के कारण देश मे राष्ट्रीयता की जो नई लहर उठी है,
हुए कहा जा सकता है कि यदि पाश्चा

दृष्टि में इस समय भारत में कोई एक राष्ट्र न भी हो, तो भी बहुत जल्दी यहाँ एक राष्ट्र की स्थापना अवश्य हो ही जायगी; और राष्ट्र की इस स्थापना का कार्य बहुत दिनो से चल भी रहा है। जो लोग भारत और भारतवासियों के शत्रु हैं, वही अपने लाभ के लिए यह कहते है कि भारत कोई राष्ट्र नहीं है। राष्ट्र के लिए आवश्यकता इसी बात की होती है कि उसकी कोई राष्ट्रीय परम्परा चली आ रही हो और सब लोगो को अपनी उस राष्ट्रीयता और परम्परा का ज्ञान हो। सब लोग यह समझते हो कि हम लोग एक ही जाति के हैं, एक ही पूर्वजों के वंशज हैं, एक ही धर्म के माननेवाले हैं और एक ही देश मे रहते हैं। और ये सभी बाते भारत के बहु-संख्यक निवासियों में वर्त्तमान हैं। यह समझना भूल है कि केवल समान भाषा, समान रहन-सहन और समान आर्थिक अवस्थाओं से ही राष्ट्र बनता है। एक तो अंग्रेजों के आने के पहले से ही सारे देश में राष्ट्रीयता का भाव वर्त्तमान था। तिस पर इतने दिनो तक ब्रिटिश शासन में रहने के कारण तो राष्ट्रीयता के भावो मे और भी बल आ गया है; और इस नवीन राष्ट्रीय आन्दोलन के कारण सारे भारत की एक ही समस्या हो गई है।

प्रायः यह भी कहा जाता है कि सारे भारत की कोई एक भाषा नहीं है, और इसी लिए भारत की जितनी राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं, उन सब को विवश होकर अपने सब काम अँग्रेजी भाषा मे करने पड़ते है। अँग्रेजी भापा की इस प्रकार प्रधानता दिखला कर कुछ लोग यह सिद्ध करना चाहते हैं कि भारतवर्ष में राष्ट्रीयता की सृष्टि अँग्रेजो की ही कृपा से हुई है। यह ठीक है कि भारत में सैकड़ो स्थानिक बोलियों के सिवा बाईस ऐसी भाषाएँ भी प्रचलित हैं जिनमे से हरएक के बोलने वालो की संख्या दस लाख से अधिक है। इनमें से सबसे अधिक बोली जानेवाली

भाषा पश्चिमी हिन्दी है जिसके बोलनेवालो की संख्या दस करोड़ से भी अधिक है। आज-कल तो राष्ट्रीय संस्थाओ की ओर से मदरास, उड़ीसा और आसाम तक मे इस भाषा के प्रचार का पूरा-पूरा प्रयत्न हो ही रहा है, लेकिन आवश्यकता होने पर यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि अँग्रेजो के इस देश मे आने से सैकड़ो वर्ष पहले भी इस भाषा का सारे देश मे कुछ-न-कुछ प्रचार था; और यदि किसी मदरासी को किसी पंजाबी के साथ या किसी कच्छी को किसी बंगाली के साथ विचार-विनिमय करने की आवश्यकता होती थी, तो उन दिनो भी उसे इसी भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। और इस बात के भी अनेक प्रमाण हैं कि जिस समय मुसलमान इस देश मे आये थे, उस समय भी एक प्रान्त के लोग दूसरे प्रांतवालो से इसी भाषा में बात-चीत करते थे।

प्रायः कहा जाता है कि ग्रेट ब्रिटेन ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के द्वारा अनजान मे ही भारत पर विजय प्राप्त कर ली थी। यह ठीक है कि अँग्रेजो ने जान-बूझकर या पहले से निश्चित की हुई किसी योजना के अनुसार भारत पर विजय प्राप्त नही की थी। देशी रियासतो के मुकाबले मे ब्रिटिश भारत का विस्तार जो इतना अधिक है, उसका कारण प्रायः कुछ बड़ी-बड़ी घटनाएँ ही हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं कि भारत मे अँग्रेज केवल आर्थिक लाभ के विचार से आये थे। वे यहाँ केवल व्यापार करना चाहते थे; अथवा अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि व्यापार के नाम पर वे यहाँ का धन लूटने के लिये आये थे। आरम्भ मे उन्होने यहाँ जो आसन जमाया था और यहाँ के कुछ स्थानो पर अधिकार किया था, वह केवल इसी लिये कि उन्हे जम कर व्यापार करने और खूब धन कमाने का अवसर मिले। लेकिन आगे चल कर जब संयोग से उनके

हाथ में एक बहुत बड़ा साम्राज्य आ गया, तब उन्हें लाचार होकर यहाँ अमन और कानून की हिफाजत के लिए भी कुछ इन्तजाम करना ही पड़ा। मतलब यह कि भारत में जो ब्रिटिश राज्य स्थापित हुआ था, वह ब्रिटिश हितों के लिये था, भारतीय हितों के लिए नहीं। और इस समय भी अँग्रेज यहाँ जो कुछ करते हैं, उसका मूल उद्देश्य अपना स्वार्थ सिद्ध करने के सिवा और कुछ नहीं होता। यदि भारत के साथ अँग्रेजो का व्यापार न रह जाय तो उनके बहुत से शिल्प और उद्योग-धन्धे बिलकुल नष्ट ही हो जायँ। इधर कुछ दिनो से भारत में जो स्वदेशी-आन्दोलन चला है और भारत में बहुत से पुतलीघर खुल गये हैं, उनसे मैन्चेस्टर आदि स्थानों का काम बहुत ही मन्दा पड़ गया है। अँग्रेज पूँजीदारों ने अपनी बहुत अधिक पूँजी ऐसे ही कामो मे लगा रक्खी है जो बिना भारत के किसी तरह चल ही नहीं सकते। और इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विलक्षण बात यह है कि वह सारी पूँजी भी उन लोगो के हाथ में भारतीय व्यापार आदि की ही कृपा से पहुँची है। आज अगर इंग्लैण्ड के हाथ से भारत निकल जाय तो एक ओर तो उसकी बहुत अधिक आर्थिक हानि होगी और दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्य के सम्मान को भी बहुत बड़ा धक्का लगेगा। तात्पर्य यह कि आर्थिक कारणों से भी और राजनीतिक कारणों से भी ग्रेट ब्रिटेन के शासको के लिये भारत पर अपना राज्य बनाये रखना नितान्त आवश्यक है।

आज-कल बहुत से अँग्रेज यह कहा करते हैं कि पहले चाहे जो कुछ हुआ हो, लेकिन इस समय भारत पर अँग्रेजों का जो शासन है, वह भारत के ही हित के लिए है। यह भी कहा जाता है कि ब्रिटिश शासन भारतवासियों को धीरे-धीरे सभ्य बना रहा है और उसकी आर्थिक अवस्था में सुधार कर रहा है। पहले

भारत मे बहुत जल्दी-जल्दी और बड़े-बड़े अकाल पड़ा करते थे; लेकिन अब ब्रिटिश शासन ने ऐसी व्यवस्था कर दी कि न तो उतनी जल्दी और न उतने बड़े अकाल पड़ते हैं। जन-साधारण के स्वास्थ्य और शिक्षा की उन्नति का भी ब्रिटिश शासन ने बहुत कुछ काम किया है। यह भी कहा जाता है कि आज-कल भारत जो एक राष्ट्र का रूप धारण कर रहा है और स्वराज्य की योग्यता प्राप्त कर रहा है, वह भी ब्रिटिश शासन की ही बदौलत कर रहा है। आगे भी अँग्रेजो के ही प्रभाव मे रह कर वह राष्ट्र बन सकेगा और अपना शासन आप करने मे उसे सबसे अधिक सहायता ब्रिटेन से ही मिल सकती है। ऐसे लोगो का यह भी कहना है कि आज अगर भारत पर से ब्रिटिश शासन उठ जाय और अँग्रेजी सेनाएँ यहाँ से हटा ली जायँ, तो फिर भारत छिन्न-भिन्न हो जायगा और यहाँ अराजकता फैल जायगी, भीषण गृह-युद्ध छिड़ जायगा और सम्भवतः बहुत जल्दी उस पर फिर किसी दूसरी विदेशी शक्ति का राज्य हो जायगा। कुछ अँग्रेजो का यह भी कहना है कि उत्तर की ओर से रूसी यहाँ आ पहुँचेगे और बोल्शेविक सिद्धान्तों का प्रचार करके सारा देश उजाड़ डालेगे। कुछ लोग यह कहते है कि भारत पर जापान का अधिकार हो जायगा और वह यहाँ का धन अपहरण करने लगेगा और एशिया के सब देशो को एक मे मिलाकर यूरोप के लिए एक नया आतंक खड़ा कर देगा।

ये सब बाते कुछ अंशो मे ठीक भी हो सकती है। आज-कल राजनीतिक दृष्टि से जिसे राष्ट्रीयता कहते है, उसकी उत्पत्ति तो भारत मे अँग्रेजी शासन की कृपा से अवश्य हुई है, परन्तु वह इसलिए हुई है कि भारतवासियो को अँग्रेजी शासन का विरोध करना पड़ता है। और नही तो जब हम यह देखते है कि भारत मे सांस्कृतिक एकता हजारो बरसो से चली आ रही है,

तब उसके सामने हमें अँग्रेजों का शासन-काल युग के सामने क्षण के ही समान जान पड़ता है। यह ठीक है कि ब्रिटिश शासन के कारण ही भारत का संसार के दूसरे देशो के साथ व्यापार होने लगा है; पर साथ-ही-साथ यह भी ठीक है कि अँग्रेजों ने यहाँ का पुराना शिल्प और व्यापार केवल अपना शिल्प और व्यापार बढ़ाने के लिए बिल्कुल नष्ट कर डाला है। और फिर विदेशी व्यापार भी भारत के लिए कोई नई चीज नहीं है। हजारों बरस पहले से चीन, तिब्बत, फारस, अरब और यूनान आदि देशो के साथ भारत का व्यापार होता था। अँग्रेजो ने इस देश में रेलें चलाई हैं, नहरें निकाली हैं, लोगों को भूखों मरने से बचाने के लिए कुछ उपाय किये हैं और पाश्चात्य ढंग की शिक्षा का भी थोड़ा बहुत विस्तार किया है। लेकिन यह सब बाते तो इस युग का धर्म ही हैं; और यदि यहाँ अँग्रेजो का राज्य न होता तो भी शायद किसी-न-किसी रूप में ये सब बाते यहाँ होती हीं। फिर यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यदि आज यहाँ से एकाएक अँग्रेजों का शासन हट जाय तो क्या होगा। सम्भव है कि देश कई भागों में विभक्त हो जाय अथवा यहाँ रूसियों या जापानियों का राज्य स्थापित हो जाय और भारतवासी अपने देश की विदेशियों से रक्षा न कर सके। लेकिन इसका उत्तरदायित्व तो स्वयं भारतवासियों की अपेक्षा उन अँग्रेजों पर ही अधिक है जिन्होंने डेढ़ सौ बरसो के शासन से भारतवासियो को सब प्रकार से अयोग्य और अकर्मण्य बना रक्खा है और उनकी वह शक्ति ही नष्ट कर दी है, जिससे वे अपने देश की रक्षा कर सकते। जो लोग इस बात का विचार करते हैं कि आज अगर भारत पर से अँग्रेजो का शासन हट जाय, तो क्या होगा, वे यदि साथ-ही-साथ इस बात का भी थोड़ा विचार करने का कष्ट करें कि यदि अँग्रेज

इस देश मे न आते तो यहाँ का कितना धन व्यर्थ ही विदेश जाने से बचता; या इस बात का ध्यान करे कि यदि अँग्रेजो ने भारतवासियो के हथियार न छीन लिये होते और उन्हे सेना तथा शासन विभाग में सम्मिलित होने का अच्छा और पूरा अवसर दिया होता, तो भारत की क्या अवस्था होती, तो शायद बहुत अच्छा होता।

भारतीय सामाजिक अवस्थाएं—भारतवर्ष के एक बहुत बड़े भाग पर अठारहवीं शताब्दी से ही अँग्रेजो का शासन चला आ रहा है। इस बीच में भारतीय जनता की जो आर्थिक उन्नति हुई है, वह अत्यन्त मन्द गति से हुई है, और बहुत बड़े अर्थापहरण के बाद हुई है। यहाँ बहुत सी रेलें जरूर बनी हैं और इधर कुछ दिनो से शिल्प आदि की उन्नति के लिए कुछ कल-कारखाने भी बनने लगे हैं। लेकिन फिर भी भारतीय जनता के उस बहुत बड़े अंश की आर्थिक अवस्था बहुत ही शोचनीय है, जो यहाँ के देहातो मे रहता है। देश की सारी खेती-बारी अब भी बिलकुल उसी तरह से होती है, जिस तरह आज से हजारो बरस पहले होती थी; और यहाँ के खेतों मे उतनी पैदावार भी नही होती, जितनी होनी चाहिए, अथवा जितनी और देशों के किसान करते हैं। यहाँ के देहातों मे स्वास्थ्य-सुधार का अब तक कोई काम ही नही हुआ है। यहाँ आये दिन जो हैजा और प्लेग आदि महामारियाँ फैलती रहती है, उन्हे रोकने का भी बहुत ही कम उपाय किया गया है। विद्यालयो की संख्या अब भी बहुत कम है और सौ में केवल १४ पुरुष ऐसे हैं जो कुछ पढ़ना-लिखना जानते है; और इनमें भी अधिकांश ऐसे ही है जो नाम मात्र के लिए कुछ पढ़-लिख लेते हैं। स्त्रियो मे तो शायद सौ में २ ही पढ़ी-लिखी होंगी। पाश्चात्य सभ्यता के साथ जापान का अपेक्षाकृत बहुत हाल मे ही सम्बन्ध हुआ है। लेकिन

इस थोड़े से समय में ही वहाँ की समस्त जनता में शिक्षा का पूरा-पूरा प्रचार हो गया है। विदेशो से मशीनो का बना हुआ जो सामान यहाँ आता है, उसने यहाँ के सभी पुराने शिल्पों और उद्योग-धन्धो को बिलकुल नष्ट कर दिया है और अब भारत सूई और सलाई तक के लिए दूसरे देशो का मोहताज हो गया है। पहले यहाँ के किसान कई छोटे-मोटे शिल्प के काम भी किया करते थे, जिनसे उनकी जीविका अच्छी तरह चलती थी। पर अब उन शिल्पों का कहीं नाम भी नहीं रह गया है। अब तो यहाँ के किसानों का बहुत सा समय व्यर्थ ही इधर-उधर की बातों मे नष्ट होता है। इधर हाल में महात्मा गान्धी की कृपा से सारे देश मे खद्दर का जो आन्दोलन चला है, वह देश को उस पुरानी अवस्था तक पहुँचाने के लिए निरा पागलपन नही है, बल्कि भारतीय देहातियो की अवस्था सुधारने और उनकी दरिद्रता दूर करने का बहुत ही उपयोगी और सच्चा प्रयत्न है।

इसके सिवा यह भी कहा जाता है कि भारतवासियो मे बहुत से सामाजिक दोष हैं। वे छोटे-छोटे बच्चो का ब्याह करते हैं और आपस मे ही छुआ-छूत का भाव रखते हैं, आदि आदि। और अगर अँग्रेजों का यहां शासन न रहेगा तो ये दोष और भी बढ़ते जायँगे। लेकिन ये सब बातें भारत के उन विदेशी शासकों के मुँह से शोभा नहीं देतीं जो अपने ही साम्राज्य के अन्य भागों मे भारतवासियों के साथ अछूतो का सा व्यवहार करते हैं। अब भारतवासियो मे राष्ट्रीयता का भाव जाग्रत हो चुका है। अब वे अपने दोषो के सुधार का भी प्रयत्न करने लगे हैं और अपने देश को विदेशियो के शासन से मुक्त करने का भी। अब वे बिना पूर्ण स्वराज्य लिये कभी संतुष्ट नहीं हो सकते। पहले अँग्रेजो को यह डर रहता था कि कहीं देश की साधारण अशिक्षित जनता उन पढ़े-लिखे लोगों के पक्ष में न हो जाय जो

देश को स्वतन्त्र करना चाहते है। लेकिन जबसे महात्मा गान्धी ने असहयोग का आन्दोलन शुरू किया, तबसे देश के कोने-कोने मे जाग्रति हो गई है। अब सब लोगो को देश की वास्तविक अवस्था का ज्ञान हो गया है और वे समझ गये हैं कि हमारी सारी दरिद्रता और अधिकांश कष्टो तथा अपमानो का कारण यही विदेशी शासन है। अँग्रेज तो प्रायः इसी लिए भारतवासियो के सामाजिक दोषो की चर्चा करते थे कि इस देश के बहुत से लोगो के मन मे यह भाव उत्पन्न हो कि हमारे देश-भाई हमारे साथ अच्छा व्यवहार नही करते और अँग्रेज हमारे पक्षपाती हैं। लेकिन अब उनका वह उद्देश्य विफल हो रहा है। अब लोग यह समझने लगे है कि हमारे भाइयों का हम पर उतना अधिक अत्याचार नहीं होता, जितना सारे देश पर विदेशी शासन का होता है। शिक्षित भारतवासी तो बहुत दिनो से अपने सामाजिक दोष दूर करने का प्रयत्न करते आ रहे है, लेकिन सरकार से जो उन्हे इस तरह के कामो मे कोई सहायता नही मिलती, उसका कारण यही है कि सरकार यही चाहती रही है कि देश के सब वर्ग मिलकर एक न होने पावे। उसका प्रयत्न बराबर यही रहा है कि देश मे जितने अधिक विभेद और विद्वेष हैं, वे सब बराबर बने रहे, बल्कि बढ़ते ही रहे; क्योंकि यही सब बाते देश को परतन्त्र रखने मे सहायक हो सकती हैं—इन्हीं से विदेशी शासको का उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। सरकार ने आज तक भारत के सामाजिक दोष दूर करने मे तो कोई विशेष सहायता दी नहीं; और इसके लिए बहाना यह निकाला कि हम इस देश के रीति-रवाज मे कोई दखल नही देना चाहते। लेकिन वास्तव मे उसके दखल न देने का उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। इसमें सन्देह नही कि यह सिद्धान्त बहुत कुछ ठीक है कि विदेशी शासको को किसी देश के रीति-रवाज मे

दखल नहीं देना चाहिए। लेकिन जो लोग सामाजिक दोष दूर करना चाहते हो, उन्हे किसी तरह की सहायता न देना, बल्कि अवसर पड़ने पर उनके मार्ग में बाधक होना उससे कहीं ज्यादा बुरा है। लेकिन फिर भी भारत सरकार बहुत दिनों से ऐसा ही करती आ रही है।

प्रायः यह भी कहा जाता है कि भारत में उत्पादन के जितने उद्गम हैं, वे कुछ इस तरह के हैं कि उनकी उन्नति अधिक तीव्र गति से हो ही नहीं सकती; और इसी लिए भारतीय गाँवों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति बहुत मन्द गति से होती है। यह बात बिलकुल ठीक है कि भारतीय किसानो पर लगान और करों आदि का बोझ बहुत अधिक है—इतना अधिक है कि वे उस बोझ से दबकर मरे जा रहे हैं। बहुत से स्थानो में सरकार उन किसानो से प्रत्यक्ष रूप से कर आदि नही वसूल करती, बल्कि जमींदारों आदि के द्वारा वसूल करती है, जिससे उन लोगो की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाती हैं और उन पर अनेक प्रकार के अत्याचार होते हैं। किसानो को जो रक़म देनी पड़ती है, उसका बहुत बड़ा हिस्सा जमींदारो के ही पास रह जाता है और सरकारी खजाने तक नही पहुँचता। इसके सिवा भारत का सैनिक व्यय बहुत अधिक बढ़ा हुआ है। देशी सेनाओ के अतिरिक्त सरकार यहाँ बहुत सी अँग्रेजी सेना भी रखती है, जिसका व्यय अपेक्षाकृत बहुत अधिक होता है। सिविल सरविस और पुलिस विभाग का खर्च भी बहुत ज्यादा बढ़ा हुआ है। भारत सरकार ने समय-समय पर जो बहुत से बड़े बड़े ऋण लिये हैं, उनका सूद चुकाने के लिए भी एक बड़ी रकम की जरूरत होती है। अँग्रेज पूँजीदारो को भी और अँग्रेजो के संरक्षण मे काम करनेवाले भारतीय पूँजीदारों को भी कई तरह से बहुत सा धन मिलता है; और इसी लिये उनमें से अधिकांश यही चाहते हैं कि

भारत मे अँग्रेजो का शासन बराबर बना रहे।

यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि अगर भारत को अपनी मर्जी के मुताबिक काम करने के लिए छोड़ दिया जाय तो यहाँ समाज और शिक्षा सम्बन्धी सुधार कदाचित् और भी मंद गति से होगे और जनता की अवस्था सुधरने मे और भी विलम्ब होगा। लेकिन इस तरह की बाते ठीक नही है। जब कोई देश परतन्त्र होता है और उस पर विदेशियो का राज्य होता है, तब उस देश के निवासी अपना सारा उत्तरदायित्व भूल जाते है। वे हर तरह से विदेशी सरकार पर ही निर्भर रहने लगते हैं। उन्हे अपना सुधार और उन्नति करने की उतनी विशेष आवश्यकता प्रतीत नही होती। किसी राष्ट्र को दरिद्रता और दुर्दशा के गड्ढे से निकालने के लिए जिस उत्साह की आवश्यकता होती है वह विदेशी शासन के अधीन रहने की अवस्था मे लोगो मे उत्पन्न ही नही होता। डेन्मार्क मे प्रायः सभी काम सहयोग समितियो के द्वारा होते है और उसकी सारी उन्नति का मूल यही सहयोग समितियोवाला आन्दोलन है। लेकिन अगर वह देश स्वतन्त्र न होता और उस पर किसी विदेशी जाति का राज्य होता तो क्या यह कभी सम्भव था कि वह इतनी उन्नति करता? यदि जापान पर किसी विदेशी शक्ति का अधिकार होता तो क्या आज वह इतनी उन्नत अवस्था में दिखाई पड़ सकता था? इधर थोड़े ही दिनो मे रूस ने जो आश्चर्यजनक उन्नति की है, वह इसी लिए कि वहाँ के निवासी समझते हैं कि सारा अधिकार हमारे ही हाथ मे है और अपने देश की उन्नति तथा सुधार का सारा उत्तरदायित्व स्वयं हम्हीं पर है। इस समय भारत नितान्त दरिद्र भी है और परम अशिक्षित भी। और इसी लिए कुछ लोगो का यह कहना है,

और बहुत से अंशो मे बिलकुल ठीक कहना है कि बिना सामाजिक क्रान्ति हुए भारतवासियों की आँखे नहीं खुल सकतीं। वे लोग यह भी कहते हैं कि जब तक भारत में अँग्रेजो का प्रभुत्व रहेगा, तब तक देश के ये दोष और ये दुरवस्थाएँ किसी तरह दूर नहीं हो सकतीं। कम-से-कम इतना अधिकार तो भारतवासियो को अवश्य ही मिलना चाहिए कि वे समझने लगे कि देश का सारा भार और सारा उत्तरदायित्व हम्हीं लोगो पर है। हमारी विदेशी सरकार पर इसका भार और उत्तरदायित्व नहीं है। भारतवासियो को अपने राष्ट्रीय उद्धार का काम अपने ढंग पर करने का पूरा-पूरा अवसर मिलना चाहिए।

भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन—भारतीय क्रान्ति के पक्ष मे यही सब समझदारी की दलीले हैं। यदि ग्रेट ब्रिटेन के शासक भारतवर्ष को स्वराज्य के वास्तविक अधिकार नहीं देंगे तो एक-न-एक दिन किसी-न-किसी तरह से यह क्रान्ति अवश्य होगी। देश को जो अधूरे अधिकार[1] दिये जायँगे, उनका कोई फल नहीं होगा। अधूरे सुधारों का परिणाम यही होगा कि भारतवासियों में वास्तविक उत्तरदायित्व का भाव तो उत्पन्न होने पावेगा ही नहीं, हाँ उससे ब्रिटिश शासन की जड़ जरूर कमजोर हो जायगी। लेकिन कठिनता तो यह है कि ग्रेट ब्रिटेन भारत को अपनी

---

१. इधर हाल में भारत को प्रान्तीय शासन के जो थोड़े-बहुत अधिकार मिले हैं, वे इसी प्रकार के अधूरे अधिकार हैं जिनकी मूल लेखक ने निन्दा की है। इन नये अधिकारों से लोगों को भाषण और लेखन की कुछ स्वतन्त्रता तो मिली थी और नेताओं का जेल जाना भी बन्द हो गया था, लेकिन वास्तविक अधिकार नहीं मिले थे। इधर दूसरा युरोपीय महायुद्ध छिड़ने पर तो अवस्था पहले से भी कहीं बुरी हो गई है। सुधारों के सम्बन्ध की कुछ बातें आगे आवेंगी। —रामचन्द्र वर्मा।

सामरिक शक्ति का आधार भी बनाये रखना चाहता है, भारतवासियों की इच्छा के विरुद्ध उनके हाथ अपना माल भी बेचना चाहता है, संसार मे अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए उसे अपने साम्राज्य के अन्तर्गत भी रखना चाहता है और भारत को ही रूस तथा जापान के प्रसार के मार्ग में बाधा के रूप मे भी रखना चाहता है। और जब तक वह ये सब बातें चाहता है, तब तक वह उसे स्वराज्य के वास्तविक अधिकार किसी तरह नहीं दे सकता। देश मे वास्तविक स्वराज्य तो तभी स्थापित हो सकता है, जब सेना, सिविल सर्विस और पुलिस सभी पर स्वयं भारतवासियो का अधिकार हो और वे अपनी इच्छा के अनुसार आय-व्यय कर सकें। इसके सिवाय स्वराज्य के लिए यह भी आवश्यक है कि भारतवासियो की ही मर्जी पर यह बात छोड़ दी जाय कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहेगे या उसके बाहर और उससे अलग होकर रहेंगे। यदि ग्रेट ब्रिटेन भारत को इतने विस्तृत अधिकार न देगा तो वह भले ही और कुछ दिनों तक अपनी सेना और पुलिस के बल पर उस पर अपना अधिकार बनाये रक्खे, आर्डिनेन्सो के द्वारा यहाँ के लोगो के मुँह बन्द रक्खे और आन्दोलन करनेवाले नेताओं को जेलो में बन्द रक्खे, लेकिन यह बात निश्चित है कि अधूरे सुधारो और अधिकारो से कभी काम नहीं चलेगा। जब तक पूरे अधिकार नहीं मिलेंगे, तब तक वे लोग बराबर सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करते ही रहेंगे, जिन्हे देश की उन्नति का भार अपने ऊपर लेना चाहिए।

इधर ब्रिटिश सरकार ने दो-तीन बार मे भारतवासियों को थोड़े-थोड़े अधिकार दिये हैं, पर उन सभी अधिकारो और सभी सुधारों में सबसे बड़ा दोष यही है कि वे अधूरे हैं। न तो उनसे भारतवासियों को सन्तोष ही हो सकता है और न देश की

उन्नति ही। यही कारण है कि देश ने इन सुधारो को अनुपयुक्त समझ कर इनका त्याग और तिरस्कार ही किया है। अभी हाल में सरकार ने अपनी तरफ से जो सुधार किये हैं और जिन्हे वह बहुत बड़े सुधार कहती है, वे भी राष्टीय भारतवासियों को तुच्छ जॅचते है। उन सुधारो के अनुसार आठ प्रान्तो मे कांग्रेसी मन्त्री-मण्डलों ने शासन का काम अपने हाथों मे भले ही ले लिया हो, लेकिन फिर भी वे लोग साफ तौर पर यही कहते थे कि हम इन अधिकारो का उपयोग केवल अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए कर रहे है; और नहीं तो वस्तुतः हम इन अधूरे सुधारो का अन्त और नाश ही करना चाहते है। कांग्रेस का संघटन ही देश मे सबसे बड़ा है और वही देश के सब प्रकार के लोगो का प्रतिनिधित्व कर सकता और करता है। इधर बहुत दिनों से कांग्रेस के आन्दोलन का दमन ही होता रहा है और अब भी लोगो को सदा यह आशंका बनी ही रहती है कि न जाने, कब वह दमन-चक्र फिर से चलने लगे। देश के अधिकांश नेता और राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता एक नहीं अनेक बार जेल हो आये हैं। इधर बहुत दिनो से भारत का शासन केवल दमन से होता आ रहा है। जब से इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय सरकार बनी है, तब से फिर बराबर इस बात के प्रयत्न होते रहते है कि भारतावसियो को नाम मात्र के लिए जो थोड़े-बहुत अधिकार दिये गये हैं, वे भी जहाँ तक हो सके, कम किये जायँ।

यह ठीक है कि इधर कुछ दिनों से सरकार ने कांग्रेस का दमन करने का विचार छोड़ दिया था और आठ प्रान्तो मे कांग्रेसी मन्त्री-मण्डलो को एक संकुचित क्षेत्र मे शासन करने की बहुत कुछ स्वतन्त्रता दे रक्खी थी। लेकिन कांग्रेस भी साफ तौर पर कहती थी कि हम आगे आनेवाली लड़ाई के लिए तैयारी कर रहे हैं; और सरकार भी अन्दर-ही-अन्दर ऐसे उपाय कर रही थी

जिनसे आवश्यकता पड़ने पर वह पूरी तरह कांग्रेस-आन्दोलन का दमन कर सके। इस बात का कहीं कोई लक्षण नहीं दिखाई दिया कि सरकार ने अपना पुराना रुख बदल दिया है और वह देश को पूरे अधिकार देकर स्वतन्त्र करना चाहती है। ये सुधार तो केवल लोगों को दिखलाने और शासन सम्बन्धी छोटे-मोटे कामों मे फँसाये रखने के लिए ही थे। यह बात एक प्रकार से निश्चित सी है कि अभी एक बार कांग्रेस को ब्रिटिश सरकार से फिर जबरदस्त मोर्चा लेना पड़ेगा; और यदि उस मोर्चे मे वह विजयी हुई, तो देश को बहुत से अंशों मे वास्तविक स्वतन्त्रता मिल सकेगी।

प्रायः यह कहा जाता है कि दमनवाली नीति इसलिए ठीक है कि कांग्रेस सारे देश की सम्मति और विचार नहीं प्रकट करती, बल्कि उसमें बहुत थोड़े से ऐसे अर्द्ध-शिक्षित हैं, जो अँग्रेजो को हटाकर देश का शासन अपने हाथ मे लेना चाहते हैं और देश की साधारण जनता यह नहीं चाहती कि यहाँ अँग्रेजों का राज्य न रहे। लेकिन सन् १९२१ व १९३०-३१ के देश-व्यापी आन्दोलनो ने और उनके बाद प्रान्तो की एसेम्बलियो के हाल के निर्वाचनो ने यह बात बहुत अच्छी तरह सिद्ध कर दी है कि भारतीय जनता का बहुत बड़ा अंश कांग्रेस के साथ है। और फिर एक यह बात भी ध्यान रखने की है कि संसार के सभी देशो में जितने राष्ट्रीय आन्दोलन होते हैं, वे सब मुख्यतः थोड़े से शिक्षितो और अर्द्ध-शिक्षितो के ही आन्दोलन होते हैं। देश के किसान और जन-साधारण तो केवल क्रान्ति के समय ही सामने आते हैं। आधुनिक जर्मनी और जापान का काया-पलट भी तो वहाँ के थोड़े से शिक्षितों और अर्द्ध-शिक्षितो ने ही किया था। सन् १९१७ में रूस में जो क्रान्ति हुई थी, उसमे भी सारी रूसी जनता सम्मिलित नहीं हुई थी। अतः इस प्रकार

के आक्षेप निरर्थक हैं।

एक बात और है। जिन परिस्थितियो मे इधर कुछ दिनों से देश का विकास हो रहा है, उन परिस्थितियो मे देश के थोड़े से शिक्षितों और अर्द्ध-शिक्षितो के सिवा और लोग सम्मिलित हो ही नहीं सकते। राष्ट्रीय आन्दोलन मे भारत की प्रमुख राष्ट्रीय संस्था यहाँ की महा-सभा या नेशनल कांग्रेस ही है। और इस कांग्रेस मे प्रमुख व्यक्ति महात्मा गान्धी है। कांग्रेस का आरम्भ सन् १८८५ में हुआ था। पहले वह सिर्फ नरम दलवालो की संस्था थी और देश मे केवल थोड़े से शासन सम्बन्धी सुधार ही कराना चाहती थी। सन् १६०६ से उसका प्रभाव राष्ट्र-व्यापी होने लगा और उसी समय उसने सब से पहले यह घोषणा की कि हम ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य चाहते हैं। लेकिन 'स्वराज्य' एक ऐसा शब्द है जिसकी कई प्रकार की व्याख्याएँ हो सकती थीं, और इसी लिए कांग्रेस में ऐसे लोग भी सम्मिलित थे जो उसकी बहुत विशद और व्यापक व्याख्या करते थे और ऐसे लोग भी थे जो उसे बहुत संकीर्ण अर्थ मे लेते थे। पहले युरोपीय महायुद्ध के बाद इस शब्द का प्रयोग दिन पर-दिन अधिक व्यापक अर्थ में होने लगा। उस महायुद्ध के समय ही एनी बेसेन्ट ने अपना होम रूलवाला आन्दोलन चलाया था। लेकिन जब यह माँग भी नामंजूर कर दी गई, तब भारतवासी कहने लगे कि हमे भी यह निश्चय करने का अधिकार मिलना चाहिए कि देश में किस प्रकार शासन हो। उसी समय मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों का आरम्भ होनेवाला था, लेकिन उससे पहले ही सन् १६१६ में अमृतसर में जो जल्याँवाले बाग का हत्याकांड हुआ था और देश में जो दमनकारी रालेट एक्ट प्रचलित हुआ था, उससे सारा देश बहुत क्षुब्ध हो गया था। और इसी लिए महात्मा गान्धी के नेतृत्व में सन् १६२१ मे देश-व्यापी असहयोग आन्दोलन हुआ था जो चौरीचौरावाले कांड

के कारण बाद मे रोक दिया गया था। उस समय सरकार ने दमन भी खूब जोरों से किया था। तब से अब तक किसी-न-किसी रूप मे बराबर सरकार के साथ कांग्रेस का संघर्ष होता आ रहा है। बीच-बीच मे कभी कुछ कारणो से यह संघर्ष कुछ कम हो जाता है, लेकिन कांग्रेस अपने पूर्ण स्वराज्य-वाले ध्येय पर अड़ी हुई है और अब तो उसकी माँग पूर्ण स्वतन्त्रता हो गई है। कांग्रेस की तरफ से कहा जाता है कि भारत सिर्फ इसी शर्त्त पर ब्रिटिश साम्राज्य मे रह सकता है कि उसका बराबरी का दावा मान लिया जाय; और यह भी मान लिया जाय कि उसे इस बात का अधिकार है कि वह जब चाहे, तब ब्रिटिश साम्राज्य से अलग भी हो सके।

कांग्रेस के प्रयत्न से देश मे समाज-सुधार और आर्थिक उन्नति के भी बहुत से काम हो रहे हैं। विशेषत: जब से (जुलाई १६३७) प्रान्तो का शासन कांग्रेसी सरकारों के हाथ में आया था, तब से इस प्रकार के बहुत से काम होने लगे थे। जेलो के जीवन मे सुधार हुआ था, अनेक स्थानो मे मद्य तथा मादक द्रव्यो का प्रचार कम किया गया था और कुछ स्थानो मे बन्द भी कर दिया गया था। जन-साधारण को शिक्षित बनाने के प्रयत्न हो रहे थे और उनके लिए देहातो तक मे पुस्तकालय आदि खुल रहे थे। ग्रामो की अवस्था सुधारने का प्रयत्न हो रहा था और किसानो की बिगड़ी हुई आर्थिक अवस्था सुधारने का उद्योग होता था। गाँवो और देहातो के लिए नये-नये शिल्पों की व्यवस्था हो रही थी और कुछ स्थानो मे मोटरे, बाइसिकिलें और बहुत सी ऐसी दूसरी चीजे तैयार करने के लिए बड़े-बड़े कारखाने खोलने का भी आयोजन हो रहा था, जिन चीजो के खरीदने मे देश के करोड़ो रुपये हर साल विदेशो में चले जाते हैं। देश के बहुत से किसान ऋण के बोझ से बुरी तरह दबे

हुए हैं। इसके सिवा वे जमींदारों के बोझ से भी परेशान हो रहे हैं। इसलिए ऐसा उद्योग हो रहा था कि उन पर के ये सब बोझ कुछ कम हों और उन्हे साँस लेने की फुरसत मिले। जहाँ तक हो सकता था, स्वदेशी वस्तुओ के प्रचार को प्रोत्साहन दिया जाता था। शिक्षा का स्वरूप भी अब बहुत कुछ राष्ट्रीय करने की व्यवस्था हो रही थी। तात्पर्य यह कि प्राय: दो ही बरसों मे सभी प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारो ने देश की उन्नति के बहुत से नये काम एक साथ ही छेड़ दिये थे और उनमे से कुछ में उन्हे अच्छी सफलता भी हुई थी। कांग्रेसी प्रान्तों की देखा-देखी इसी तरह के कुछ काम उन प्रान्तों में भी होने लगे थे, जिनमें कांग्रेसी सरकार नही थी। लेकिन जब दूसरा महायुद्ध छिड़ने पर सैद्धान्तिक कारणो से कांग्रेसी मंत्री-मंडल अधिकार छोड़कर अलग हो गये, तब सारे देश में बहुत कुछ वही पहलेवाली अवस्था हो गइ। कांग्रेसी मंत्री-मण्डलो के किये हुए प्रयत्नों पर पानी फिरने लगा; और भारत-रक्षा कानून के नाम पर दमन-चक्र भी जोरों पर चलने लगा।

अस्पृश्यता—इधर कुछ दिनो से महात्मा गांधी राजनीतिक क्षेत्र से कुछ अलग से हो गये थे और अपना अधिकांश समय अस्पृश्यता का निवारण और अछूतों का उद्धार करने मे लगाते थे। अस्पृश्यता का प्रश्न सामाजिक तो है ही, पर साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक भी है और गोल मेज कान्फ्रेंसों के समय इस प्रश्न ने बहुत ही उग्र रूप धारण किया था। कुछ लोग यह चाहते थे कि अस्पृश्यों को हिन्दुओ से बिल्कुल अलग कर दिया जाय, जिससे हिन्दुओं की संख्या और बल कम हो जाय। जब इस प्रश्न के सम्बन्ध में गोल मेज कान्फ्रेंस में कोई समझौता न हो सका, तब तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मन्त्री स्व० मि० रैम्से मैक्डानल्ड ने यह फैसला कर दिया कि अछूतों की गिनती

हिन्दुओं से अलग हो और काउन्सिलो आदि के लिए उनके निर्वाचन और प्रतिनिधि भी हिन्दुओ से अलग हो। उस समय महात्मा गांधी यरवदा जेल मे थे। वे पहले ही एक अवसर पर कह चुके थे कि मै अपने प्राणो की बलि देकर भी अछूतो को हिन्दुओ से अलग होने से बचाऊँगा। जब ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय की सूचना उन्हे मिली, तब उन्होने यह घोषणा कर दी कि मै तब तक अन्न ग्रहण न करूँगा, जब तक इस प्रश्न का सन्तोषजनक निर्णय नही हो जायगा। इससे हिन्दुओ और अछूतो में जल्दी ही समझौता हो गया और हिन्दू समाज का एक बड़ा अंश उससे कट कर अलग होने से बच गया।

लेकिन इसका यह मतलब नही है कि समस्त भारत के हिन्दुओ में से अस्पृश्यता का भाव निकल गया है और उन्होने सब अछूतो को अपना लिया है। सारे भारत मे प्रायः साढ़े चार करोड़ अछूत हैं, जिनमे से पौने तीन करोड़ के लगभग बङ्गाल, बिहार और संयुक्त प्रान्त मे ही हैं। लेकिन इन प्रदेशो में अछूतों की अवस्था उतनी शोचनीय नही है, जितनी मद्रास मे है। तो भी सारे भारत मे अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन अच्छी गति से चल रहा है। अनेक स्थानो पर उनके लिए मन्दिरो में दर्शन कराने का और कूओ पर पानी भरने का निषेध नहीं रह गया है, बहुत से स्थानो पर उनके बालको को पढ़ाने के लिए विद्यालय आदि खुल रहे हैं और उनके रहने के महल्लो की सफाई हो रही है। इस बात का निरन्तर उद्योग हो रहा है कि उनका नैतिक, आर्थिक और शारीरिक सुधार तथा उन्नति हो।

कम्यूनिज्म और मजदूरों के संघटन—भारत सरकार की आज्ञा से सारे भारत में कम्यूनिस्ट सिद्धान्तो के प्रचार की मनाही है और कम्यूनिस्ट विचारोंवाले भारतीय नेताओं को प्रायः अपने देश से निर्वासित होकर और दूसरे देशों मे रह कर अपना जीवन

बिताना पड़ता है। मजदूरो के जो संघ है, उनके सम्बन्ध में भी भारत सरकार को यह सन्देह बना रहता है कि ये लोग छिपे तौर पर उनमें कम्यूनिस्ट सिद्धान्तो का प्रचार करते है। भारत में मज़दूरो के संघ अभी बहुत ही दुर्बल है और उनका ठीक तरह से संघटन भी नहीं हुआ है। रेलो मे काम करनेवालो का संघटन कुछ अच्छा है और इसके सदस्यो की संख्या डेढ़ लाख से ऊपर है। अहमदाबाद और बम्बई के कपड़ों के कारखानो मे काम करनेवालो का भी अच्छा संघटन है। मजदूरो की अखिल भारतीय संस्थाएँ दो हैं। इनमे से एक का नाम है आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस और दूसरी का नाम है नैशनल फैडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स। ट्रेड यूनियन कांग्रेस के नेता मुख्यतः राष्ट्रीय दल के और कांग्रेसी नेता हैं और फैडरेशन अपेक्षाकृत कुछ नरम दलवालो के हाथ में है। इनके सिवा मजदूरो के और भी अनेक छोटे-मोटे संघ हैं जो इन दोनो से अलग रहते हैं। लेकिन अधिकतर संघो की प्रवृत्ति राष्ट्रीयता और साम्यवाद की ओर ही है।

राजनीतिक दल—सन् १९३१ की मर्दुम-शुमारी के अनुसार सारे भारत मे २४ करोड़ से कुछ कम हिन्दू है और १२॥ करोड़ से अधिक बौद्ध है, जिनमें से अधिकांश बरमा में रहते हैं; और राजनीतिक कार्यों के लिए बरमा अब भारत से अलग कर दिया गया है। ४३॥ लाख के लगभग सिक्ख, १२॥ लाख के करीब जैन, ६३ लाख के करीब ईसाई और ७॥ करोड़ के करीब मुसलमान हैं। ८० लाख से ऊपर ऐसे लोग हैं जो अनेक प्रकार के जंगली धर्म मानते हैं। भारतीय राष्ट्रीय महासभा में हिन्दुओ की संख्या सबसे अधिक है, लेकिन उसमे बहुत से सिक्ख, जैन, बौद्ध, ईसाई, पारसी और मुसलमान भी हैं। आज से अठारह-बीस वर्ष पहले कांग्रेस में मुसलमानो की संख्या भी बहुत

अधिक हो गई थी और तभी से कांग्रेस का स्वरूप नितान्त राष्ट्रीय माना जाता है। सन् १६२१ वाले असहयोग आन्दोलन के समय हिन्दुओ और मुसलमानो में पूरी एकता हो गई थी, जिसे देखकर ब्रिटिश सरकार बहुत ही सशंकित हुई थी। तभी से अन्दर-ही-अन्दर हिन्दुओ से मुसलमानो को अलग करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न और षड़यन्त्र होने लगे, जिनमें आगे चलकर बहुत कुछ सफलता भी हुई। इन्हीं प्रयत्नो का यह फल है कि इधर पन्द्रह-सोलह बरसो से जगह-जगह हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी होते रहते है और मुसलमानो की संस्था मुस्लिम लीग हर बात मे हिन्दुओ और कांग्रेस का विरोध करती रहती है और नित्य अपनी नई और अनोखी माँगे भी पेश करती रहती है। हिन्दुओ और कांग्रेस का विरोध करने के लिए मुस्लिम लीगवाले प्रायः बहुत सी बातो में ब्रिटिश सरकार का भी साथ देते है। अब तो मुस्लिम लीग की माँग इस हद तक आ पहुँची है कि पंजाब, सिन्ध, सीमा-प्रान्त, बंगाल और काश्मीर आदि जिन प्रदेशो मे मुसलमानो की आबादी अधिक है, वे सब पूरी तरह से मुसलमानो के अधीन कर दिये जायँ, और उनके साथ हैदराबाद, भोपाल और रामपुर आदि ऐसी रियासतें भी मिला दी जाँय, जिनके निवासियो में बहुत अधिक संख्या है तो हिन्दुओ की ही, पर फिर भी जो मुसलमान शासको की रियासते हैं। यह पाकिस्तानी योजना कहलाती है; और इसके अनुसार प्रायः सभी बातो मे मुस्लिम लीग अपने लिए आधा हिस्सा माँगती है। महात्मा गांधी और कांग्रेस दोनो ही बराबर इस बात का प्रयत्न करते रहते हैं कि किसी प्रकार हिन्दुओ और मुसलमानो मे मेल हो जाय और इसके लिए कोई डेढ़ बरस पहले महात्मा गांधी स्वयं चलकर मुस्लिम लीग के नेता मि० मुहम्मदअली जिन्ना के पास गये थे। लेकिन

फिर भी दोनों में इसलिए कोई समझौता न हो सका कि मुस्लिम लीग की माँगे इतनी बड़ी और जबरदस्त थीं जो कभी न्याय-संगत नहीं कही जा सकती थी। इसलिए कम-से-कम इस समय के लिए कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के साथ समझौता करने का विचार छोड़ दिया है और वह मुसलमान जनता में कांग्रेसी सिद्धान्तों का प्रचार करने और उन्हे कांग्रेस का सदस्य बनाने का प्रयत्न कर रही है। लेकिन मुसलमान एक तो उसके इस प्रयत्न से भी नाराज होते हैं और दूसरे वे भिन्न-भिन्न प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारों को भी तरह-तरह से बदनाम करने की कोशिश करते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मुसलमानों की इस अदूरदर्शितापूर्ण वृत्ति का देश पर बहुत ही बुरा प्रभाव हो रहा है और उसकी स्वतन्त्रता के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा खड़ी हो रही है। भारत के मुसलमान अपने उन हिन्दू भाइयो के तो शत्रु हो रहे हैं, जिनके साथ उन्हें सदा इस देश मे बसना है; और उन इस्लामी देशों के साथ नाता जोड़ना चाहते हैं जो उनकी कोई खास परवाह ही नहीं करते। परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इस फूट का बीज विदेशी सरकार के चरो का ही बोया हुआ है और अधिकांश नेता अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए ही हिन्दू-मुस्लिम एकता के मार्ग मे बाधक हो रहे हैं। यह तो निश्चित ही है कि आगे चलकर कभी-न-कभी हिन्दू-मुस्लिम एकता होगी ही और मुसलमानों मे कभी-न-कभी देश-प्रेम जाग्रत होगा ही। लेकिन इससे पहले देश की बहुत बड़ी हानि हो लेगी। यदि आज नहीं तो कल और कल नही तो परसो मुसलमान यह समझने के लिए बाध्य होगे ही कि हिन्दुओ के साथ व्यर्थ की लड़ाइयाँ लड़ने और अ-कारण ही दंगा-फसाद करने से हमारा कोई वास्तविक लाभ नहीं हो सकता; उलटे हम बराबर घाटे मे ही रहते हैं। परन्तु

अभी तो दस-बीस बरस मुसलमानो को ऐसी सुबुद्धि आती हुई दिखाई नहीं देता। इस अवसर पर हमें स्व० स्वामी श्रद्धानन्द जी का वह कथन स्मरण हो आता है कि हिन्दुओ और मुसलमानो मे एका होने से देश स्वतन्त्र नहीं होगा, बल्कि जब देश स्वतन्त्र हो जायगा, तब हिन्दुओं और मुसलमानो मे एका होगा। इसी लिए इस समय जो थोड़े से समझदार मुसलमान कांग्रेस का साथ दे रहे है, या जो मुसलमान नेता मुस्लिम जनता मे राष्ट्रोय भावो का प्रचार करने के लिए अपना संघटन कर रहे है, उन्हीं की सहायता से कांग्रेस देश को स्वतन्त्र करने के प्रयत्न मे लगी हुई है।

इस प्रकार भारत मे एक ओर तो राष्ट्रीय महासभा है जो देश को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र करना चाहती है और दूसरी ओर वह मुस्लिम लीग है जो कहती है कि या तो सारा देश सदा के लिए परतन्त्र रहे और या हमारी उचित तथा अनुचित सभी माँगे पूरी की जायँ और सारे भारत मे हमे इस्लाम धर्म और इस्लामी सभ्यता तथा सस्कृति का पूरा-पूरा प्रचार करने की अबाध्य स्वतंत्रता मिले। इसके सिवा देश मे थोड़े से नरम दलवाले नेता भी है जिनके अनुयायियो की संख्या बहुत ही कम है। कांग्रेस से मुख्यतः दो बातो मे इन लोगो का मत-भेद है। कांग्रेस तो कहती है कि हमे पूर्ण स्वराज्य मिले और इस बात का अधिकार हो कि हम यदि चाहे तो ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहे और चाहे तो उससे अलग हो सके। लेकिन नरम दलवाले या लिबरल ब्रिटिश साम्राज्य से किसी तरह अलग नहीं होना चाहते और कहते है कि हमे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही स्वराज्य के अधिकार मिलने चाहिएँ। इसके सिवा कांग्रेस समय-समय पर असहयोग और सविनय अवज्ञा आदि साधनो से भी काम लेती है; और नरम दलवाले कहते हैं कि हमें सिर्फ पुराने

ढंग से अपने प्रस्ताव सरकार के सामने रख देने चाहिएँ। और जो अधिकार वह दया करके हमें दे दे, उसी से हमें सन्तुष्ट हो जाना चाहिए और आगे के लिए फिर अपनी माँगें उसके सामने रखते चलना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारत बहुत दिनो से इस रास्ते पर चलकर बिलकुल निराश हो चुका है और उसे अब भिखमंगोंवाली नीति बिलकुल नापसन्द है। वह अब अपने बल पर सब अधिकार प्राप्त करना चाहता है; और इसी लिए नरम दल मे थोड़े से नेता ही नेता है—अनुयायी कोई नहीं है।

जिस प्रकार सारे भारत मे अल्प-संख्यक मुसलमानों की एक बड़ी समस्या है, उसी प्रकार पंजाब मे अल्प-संख्यक सिक्खों की भी एक समस्या है। पहले अधिकांश सिक्ख अँग्रेजों और अँग्रेजी शासन के पूरे भक्त होते थे। लेकिन अब उनमें भी राष्ट्रीयता का भाव पूर्ण मात्रा में आ गया है और वे भी प्रायः राष्ट्रीय महासभा के साथ मिलकर काम करते हैं। देश में एक और अल्प-संख्यक दल पारसियों का है। लेकिन पारसी सदा से बहुत अधिक शिक्षित और समझदार होते आये हैं और सदा कांग्रेस का साथ देते रहे हैं। इस समय भी वे कांग्रेस से अलग या उसके विरोधी नहीं हैं। एक और अल्प-संख्यक समाज ईसाइयो का है जो अब तक कांग्रेस से अलग रहता था। लेकिन यह समाज भी शिक्षित, समझदार और अग्रसर होने के कारण अब कांग्रेस की ओर प्रवृत्त होने लगा है।

भारत सरकार—यद्यपि सन् १९३५ में सारे भारत के लिए एक नया संघटन विधान बन गया है, परन्तु अभी तक भारत सरकार का काम सन् १९१९ वाले उसी संघटन विधान के अनुसार चल रहा है जो मान्टेगू-चेम्सफोर्ड सुधार के नाम से प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि सन् १९३५ में जो नया विधान

बना है, उसके दो विभाग है। एक विभाग तो प्रान्तीय शासन से सम्बन्ध रखता है और दूसरा विभाग उस भावी भारत सरकार से सम्बन्ध रखता है जो संघ सरकार कहलावेगी। यह पहला विभाग तो सन् १६३७ से ही प्रचलित हो गया है और इसके अनुसार सभी प्रान्तों का शासन हो रहा है। लेकिन संघ सरकार-वाली योजना अभी तक काम मे नहीं लाई गई है। अभी सिर्फ उसकी तैयारियाँ हो रही थी और आशा की जाती थी कि साल दो साल मे उस योजना के अनुसार भी सरकार काम करने का प्रयत्न करेगी। लेकिन वर्त्तमान युरोपीय युद्ध के कारण जो नई परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही है, उन से ज्ञान पड़ता है कि युद्ध की समाप्ति पर फिर नये सिरे से कोई साँचा खडा करने का प्रयत्न किया जायगा। यह तो निश्चित ही है कि अभी तक भारत औपनिवेशिक स्वराज्य से भी बहुत दूर है; फिर पूर्ण स्वराज्य का तो पूछना ही क्या है। अभी तक भारत का सारा अधिकार ब्रिटिश पार्लमेंट के ही हाथ में है जो भारत का शासन भारत मत्री के द्वारा करती है। और अब महायुद्ध के कारण बहुत कुछ अधिकार वाइसराय को सौप दिये गये है। पर अभी तक उसी पुराने ढंग से सब काम होते आ रहे हैं।

भारत मे भारत सरकार का प्रधान वाइसराय है जो अपनी काउन्सिल की सहायता से सब काम करता है। कानून बनाने के लिए दो चेम्बरे है। बड़ी चेम्बर काउन्सिल आफ स्टेट कहलाती है जिसमे ३३ चुने हुए सदस्य हैं और २७ सरकार के नामांकित सदस्य होते है। ये सदस्य प्रायः बहुत बड़े आदमी ही होते हैं और युरोपियनो के प्रतिनिधि भी इन्ही चुने हुए सदस्यो मे से होते है। छोटा हाउस लेजिस्लेटिव एसेम्बली कहलाता है। और उसमे १०४ जनता के चुने हुए और ४१ सरकार द्वारा नामांकित सदस्य होते है। परन्तु इस भारतीय पार्लमेंट के

अधिकार बहुत ही संकुचित हैं। वाइसराय जिस बिल को चाहे, ना-मंजूर कर सकता है। इसके सिवाय अगर कोई बिल किसी एक ही हाउस में स्वीकृत हो और दूसरे में अस्वीकृत हो, तो उसे भी वह अपनी इच्छा से स्वीकृत कर सकता है। जो बिल दोनों चेम्बरों में अस्वीकृत हुआ हो, उसे भी वह यदि आवश्यक समझे तो ब्रिटिश पार्लमेंट की स्वीकृति से मंजूर करके जारी कर सकता है। और कोई बहुत जल्दी का काम हो तो बिना पार्लमेंट की स्वीकृति के खुद भी मंजूर और जारी कर सकता है। साधारणतः बजट लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सामने जरूर पेश होता है। लेकिन अगर वह एसेम्बली कोई खर्च ना-मंजूर कर दे तो वाइसराय को अधिकार है कि अपनी इच्छा से भी वह खर्च कर सके। इसके सिवा खर्च की कई बहुत बड़ी-बड़ी मदें ऐसी भी हैं जिन पर एसेम्बली का किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। जैसे सेना विभाग का खर्च, राजनीतिक और धार्मिक विभाग के खर्च, कुछ खास नौकरों की तनख्वाहें और पेन्शनें और लिये हुए ऋणों का सूद या इसी प्रकार के कुछ और खर्च। मतलब यह कि देश के आय-व्यय पर एसेम्बली का वस्तुतः कुछ भी अधिकार नहीं है। जो थोड़े-बहुत अधिकार नाम के लिए भारतीय पार्लमेंट को मिले भी हैं, उन सब पर वाइसराय का पूरा-पूरा नियन्त्रण है। और जहाँ तक केन्द्रीय सरकार का प्रश्न है, वहाँ तक देश मे कोई उत्तरदायित्व-पूर्ण शासन नहीं है। वाइसराय की सहायता के लिए जो एक्जिक्यूटिव काउन्सिल है, उसके छः सरकारी सदस्य हैं, जिनमें से प्रत्येक किसी केन्द्रीय विभाग का प्रधान है। इन छः में से चार अंग्रेज और दो हिन्दुस्तानी होते हैं। लेकिन वे दोनों भी सरकारी अफसर ही होते हैं, प्रजा के प्रतिनिधि नहीं होते। मतलब यह है कि यहाँ भी किसी प्रकार की उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवस्था नहीं है। इधर अधिकारों की माँग

बढ़ने के कारण सरकार इस काउन्सिल मे कुछ और लोगो को भी लेने की घोषणा तो कर चुकी है। पर उन थोड़ी सी जगहों पर अधिकार चाहनेवालो की संख्या इतनी बढ़ रही है कि उसने एक विकट समस्या का रूप धारण कर लिया है।

प्रान्तीय शासन—जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, प्रान्तीय शासन की व्यवस्था इधर तीन बरसो से सन् १९३५ वाले नये विधान के अनुसार हो रही है। इस नये विधान के अनुसार सब प्रान्त दो भागो मे विभक्त हैं। पहले विभाग मे मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार, आसाम, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, उड़ीसा और सिन्ध ये ११ प्रान्त हैं जो गवर्नरो के प्रान्त हैं; और ब्रिटिश बिलोचिस्तान, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग, अंडमन, निकोबार और पन्थ-पिपलोदी नाम के क्षेत्र चीफ कमिश्नरो के प्रान्त कहलाते हैं। पहले विभाग के ११ प्रान्तो मे सम्राट् द्वारा नियुक्त गवर्नर ही मुख्य शासक होते हैं। सब प्रकार के प्रान्तीय शासन, शान्ति और सुव्यवस्था आदि के लिए वस्तुतः वे ही उत्तरदायी हैं। मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, बिहार और आसाम में दो-दो हाउस होते हैं और पंजाब, मध्य प्रान्त तथा बरार, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त, उड़ीसा और सिन्ध में केवल एक-एक ही हाउस होता है। प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडल ५४ विशिष्ट विषयो से सम्बन्ध रखने-वाले कानून बना सकता है, जिनमें सार्वजनिक शान्ति, प्रान्तीय अदालतें, पुलिस, जेल, आबकारी, सार्वजनिक स्वास्थ्य, मालगुजारी और लगान आदि विषय मुख्य है। प्रान्तीय विषयो की व्यवस्था मे गवर्नर को सहायता देने के लिए एक मन्त्री-मंडल होता है। भिन्न-भिन्न प्रान्तो मे मन्त्री-मंडल के सदस्यो की संख्या अलग-अलग होती है। कुछ विषयो की व्यवस्था मे गवर्नर का

विशेष उत्तरदायित्व होता है। यथा—प्रान्त की शान्ति-रक्षा, अल्प-संख्यकों के उचित हितों की रक्षा, सिविल सरविस के उचित हितो की रक्षा, व्यापार और उद्योग आदि के क्षेत्रों मे विदेशियों को मिले हुए विशेष अधिकारों की रक्षा, प्रान्त के अन्तर्गत देशी राज्यों और उनके नरेशो के हितों तथा मान-मर्यादा की रक्षा और स्वयं अपनी प्रचलित की हुई आज्ञाओं की व्यवस्था आदि। गवर्नर अपने मन्त्रियो को जैसी चाहे, वैसी आज्ञाएँ दे सकता है; और यदि वे उन आज्ञाओं के अनुसार कार्य न करें तो वह व्यवस्थापक सभा को भंग करके अथवा बिना किये ही मन्त्रियों को त्याग-पत्र देने के लिये बाध्य कर सकता है। वह नये मन्त्री भी नियुक्त कर सकता है और बिना मंत्रियो की सहायता के स्वयं अपने अधिकार से भी शासन के सब कार्य कर सकता है।

यदि गवर्नर को ऐसा जान पड़े कि प्रान्त की शान्ति हिंसात्मक कार्यों से भंग होना चाहती है, तो वह उसे रोकने के लिए कोई विशेष आदेश दे सकता है और कोई काम या विभाग अपने हाथ में ले सकता है। यदि वह चाहे तो ऐसी आज्ञा भी दे सकता है कि पुलिस के कागजात किसी को (अर्थात् मन्त्रियो तक को) न दिखलाये जायँ। प्रान्त में शासन सम्बन्धी जितने काम होते है, वे सब गवर्नर के नाम पर होते हैं; और जो काम वह स्वयं नही करना चाहता, उनके लिए वह नियम बना देता है और मन्त्रियो को उन्हीं नियमो के अनुसार सब काम करने पड़ते हैं।

ऊपर चीफ कमिश्नरो के जो छः प्रान्त बतलाये गये हैं, उनका शासन स्वयं गवर्नर जनरल एक चीफ कमिश्नर के द्वारा करता है। इन प्रान्तो के लिए कानून भारतीय व्यवस्थापक मण्डल बनाता है। इन प्रान्तो मे से एक कुर्ग को छोड़कर और किसी प्रान्त में व्यवस्थापक परिषद् नहीं है। चीफ कमिश्नर को

अपने प्रान्त के शासन के लिए प्रत्यक्ष रूप से वे सभी अधिकार होते हैं जो बड़े प्रान्तो के गवर्नरो और उनके मन्त्रियों को होते हैं।

प्रान्तीय व्यवस्था—हम पहले बतला चुके हैं कि मद्रास, बम्बई, बङ्गाल, संयुक्तप्रान्त, बिहार और आसाम में दो-दो हाउस या सभाएँ है। इनमें से बड़ा हाउस लेजिस्लेटिव काउन्सिल कहलाता है और छोटा लेजिस्लेटिव एसेम्बली। शेष पाँचों प्रान्तो मे केवल एक ही हाउस या सभा है जो लेजिस्लेटिव एसेम्बली कहलाती है। प्रत्येक लेजिस्लेटिव एसेम्बली का कार्य-काल साधारणतः पाँच वर्ष होता है। यह बीच में जब चाहे तब गवर्नर की आज्ञा से भंग भी की जा सकती है। हाँ, लेजिस्लेटिव काउन्सिल स्थायी संस्था होती है जो कभी भंग नहीं हो सकती। परन्तु हर तीसरे वर्ष इसके एक-तिहाई सदस्य कुछ विशिष्ट नियमो के अनुसार बदलते रहते हैं। सिक्ख, मुसलमान, युरोपियन, एंग्लो-इंडियन और देशी ईसाई केवल अपने ही वर्ग के प्रतिनिधि चुन सकते हैं। यदि कोई सिक्ख किसी हिन्दू को चुनना चाहे या कोई ईसाई किसी मुसलमान को चुनना चाहे तो वह नहीं चुन सकता। इस सम्बन्ध मे भी कुछ विशेष नियम हैं कि कैसे लोग निर्वाचित हो सकते हैं और कैसे लोग निर्वाचक हो सकते है। प्रान्तीय व्यवस्थापक सभाओ या लेजिस्लेटिव एसेम्बलियो के कुल सदस्यो की संख्या इस प्रकार है:—

मद्रास	२१५
बम्बई	१७५
बङ्गाल	२५०
संयुक्तप्रान्त	२२८
पंजाब	१७५
बिहार	१५२

मध्यप्रान्त-बरार	..	....	११२
आसाम	...	.	१०८
सीमा प्रान्त	..	..	. ५०
उड़ीसा	...	...	... ६०
सिन्ध	...	...	... ६०

इनमें से प्रायः सभी प्रान्तों में मुसलमानों, एंग्लो-इण्डियनों, युरोपियनों, भारतीय ईसाइयों, व्यापारो, उद्योग-धन्धो और खानों आदि के प्रतिनिधियो और जमीदारो आदि को उनकी आबादी के हिसाब से कही अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। बाकी और सब जातियाँ तथा वर्ग एक में हैं, जिन्हे स्वभावतः अपनी जन-संख्या के अनुपात से बहुत ही कम प्रतिनिधित्व मिला है। इसके सिवा भिन्न-भिन्न जातियों और वर्गों की स्त्रियों के लिए भी स्वतन्त्र प्रतिनिधित्व है। अस्पृश्य जातियो के लिए भी कुछ विशेष स्थान नियत हैं। हर जगह सब जातियों और वर्गों का पृथक् निर्वाचन होता है, जिससे सारे देश मे १५ भिन्न-भिन्न निर्वाचक संघ हो गये हैं जो इस प्रकार हैं—

१. साधारण। २. सिक्ख। ३. मुसलमान। ४. एंग्लो-इण्डियन। ५. युरोपियन। ६. भारतीय ईसाई। ७. व्यापार और उद्योग। ८ जमींदार। ९. विश्व-विद्यालय। १०. श्रम। ११. स्त्रियाँ—साधारण। १२. स्त्रियाँ—सिक्ख। १३. स्त्रियाँ—मुसलमान। १४ स्त्रियाँ—एंग्लो-इण्डियन। और १५. स्त्रियाँ—भारतीय ईसाई।

इसके सिवा अभी हरिजनों का एक और पृथक् निर्वाचक संघ होने को था, लेकिन महात्मा-गान्धी के अनशन करने और अधिक प्रयत्न करने पर बहुत कठिनता से उन्हे साधारण निर्वाचक संघ में सम्मिलित किया गया था। कदाचित् पाठको को यहाँ यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि ब्रिटिश सरकार ने इस

प्रकार की निर्वाचन प्रथा से सारे देश को बहुत से भिन्न-भिन्न टुकड़ों में बाँट दिया है और उनमें से अधिकांश टुकड़ो को उनकी जन-संख्या के अनुपात से इतना अधिक प्रतिनिधित्व दे रक्खा है कि वे कभी सहज में पृथक् निर्वाचन की प्रथा छोड़ने के लिए तैयार ही नहीं होंगे। इनमे से जो वर्ग पृथक् निर्वाचन के विरोधी थे, उन्हें भी जबर्दस्ती पृथक् निर्वाचन संघ दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, स्त्रियाँ यह नहीं चाहती थीं कि उनका पृथक् निर्वाचन हो; और कई बार उनकी महासभाओ में सम्मिलित निर्वाचन के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकृत हुए थे। लेकिन सरकार ने उनके लिए भी जबर्दस्ती पृथक् निर्वाचन ही रक्खा है। शीया मुसलमान भी सम्मिलित निर्वाचन चाहते थे, लेकिन वे भी सुन्नी मुसलमानो के साथ रखे गये। अब देशी ईसाई भी सम्मिलित निर्वाचन के पक्ष में हो गये हैं; लेकिन उनकी माँग पूरी होने के भी अभी कोई लक्षण नहीं दिखाई दे रहे हैं। यह पृथक् निर्वाचन का विष सारे देश को इसी लिए जबर्दस्ती पिलाया गया है कि देश कभी मिलकर एक न हो सके—वह कभी विदेशी शासन से मुक्त होने का कोई सम्मिलित उद्योग न कर सके।

लेजिस्लेटिव काउन्सिल—जिन छः प्रान्तो मे जिस्लेटिव एसेम्बली के अतिरिक्त लेजिस्लेटिव काउन्सिल भी है, उनके नाम और उनके सदस्यों की संख्या इस प्रकार है—

मद्रास	५४ से ५६ तक
बम्बई	२६ से ३० तक
बंगाल	६३ से ६५ तक
संयुक्तप्रान्त	५८ से ६० तक
बिहार	२६ से ३० तक
आसाम	२१ से २२ तक

इनमे से मद्रास में ८ से १० तक, बम्बई में ३ से ४ तक,

बंगाल मे ६ से ८ तक, संयुक्त प्रान्त मे ६ से ८ तक, बिहार में ३ से ४ तक और आसाम में भी ३ से ४ तक ऐसे सदस्य होते हैं जिन्हे उन प्रान्तों के गवनेर अपनी तरफ से नामजद करते हैं। बाकी सदस्य चुने हुए होते हैं और प्रायः बड़े आदमी और उनके प्रतिनिधि होते हैं। हम ऊपर बतला चुके हैं कि ये काउन्सिलें स्थायी होती हैं और भंग नहीं की जा सकती; और इनके एक तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्प बदले जाते हैं। इसका मतलब यही होता है कि हर सदस्य का कार्य-काल साधारणतः नौ वर्ष होता है। तथापि इन काउन्सिलो का जिस समय पहले-पहल संघटन हुआ था, उस समय गवर्नरों ने कुछ सदस्यो का कार्य-काल घटाकर ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि प्रत्येक प्रकार के सदस्यो में लगभग एक-तिहाई हर तीसरे वर्प अपना स्थान खाली करते जायँ और उनकी जगह नये सदस्य आते जायँ। इन काउन्सिलो में भी मुसलमानों और ईसाइयो को उनकी जन-संख्या के अनुपात से कही अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया है। और ये लोग अपने ही वर्ग के लोगों को चुन भी सकते हैं—दूसरे वर्गों के लोगों को इच्छा होने पर भी इन्हें चुनने का कोई अधिकार नही है। इन काउन्सिलों में प्रायः जमींदार, ताल्लुकेदार और पूँजीदार ही अधिक संख्या में होते हैं, जिनका स्वार्थ साधारण जनता के स्वार्थ से भिन्न होता है और जो देश की प्रगति के मार्ग में प्रायः बाधक ही होते हैं। इसके अतिरिक्त इनके संघटन की व्यवस्था कुछ ऐसी पेचीदी रक्खी गई है कि इनमे अधिकतर वही लोग पहुँचते हैं जो देश को स्वाधीनता प्राप्त करने मे सहायता मिलना तो दूर रहा, उलटे उसके मार्ग में अड़चने ही पैदा करती हैं। और वास्तव मे इन काउन्सिलों की सृष्टि भी इसी उद्देश्य से की गई है।

जिन प्रान्तो मे एसेम्बली और काउन्सिल दोनो होती हैं,

उनमे कोई नया कानून तभी बनता है, जब दोनो हाउस उसे स्वीकृत कर लें और गवर्नर भी उस पर अपनी स्वीकृति दे दे। जिन प्रान्तो में केवल एसेम्बली होती हैं, वहाँ एसेम्बली का पास किया हुआ कानून जब गवर्नर स्वीकृत कर लेता है, तब काम में लाया जाता है

इस नवीन विधान में इस बात की पूरी व्यवस्था की गई है कि यदि इंग्लैंड मे बसनेवाली कोई ब्रिटिश प्रजा भारत में आकर बसना, नौकरी करना या व्यापार आदि करना चाहे तो उसमे किसी प्रकार की बाधा न हो सके और उसे भी वे सब पूरे-पूरे अधिकार प्राप्त हों, जो भारतीय प्रजा को हैं। भारत में इंग्लैंड से जो माल आता है, उसके सम्बन्ध में भी कोई भेद-भाव-मूलक कानून यहाँ नहीं बन सकता। अंग्रेजी कम्पनियों आदि के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। और ये सब व्यवस्थाएँ इसी लिए रक्खी गई हैं कि अंग्रेजों के मुक़ाबले में भारतीय अपने लिए कोई खास सुभीता न करने पावे और उन्हें पहले से जो अधिकार मिले हुए हैं, उन पर कोई आघात न हो।

गवर्नरो को अपनी ओर से आर्डिनेन्स जारी करने या नया कानून बनाने या कोई विशेष आज्ञा देने का भी पूरा अधिकार है। जिस समय व्यवस्थापक-मंडल काम न करता हो, उस समय तो उसे यह अधिकार होता ही है; पर जिस समय व्यवस्थापक मंडल काम करता हो, उस समय भी उसे यह अधिकार होता है। अर्थात् प्रान्तीय व्यवस्थापक-मंडल को कानून बनाने का जितना अधिकार है, उतना सब अधिकार और उसके अतिरिक्त कुछ और अधिकार भी गवर्नर को कानून बनाने के सम्बन्ध मे प्राप्त हैं। यह अधिकार उन्हे पहले प्राप्त नहीं था, पर इस नये विधान के अनुसार प्राप्त हो गया है। अर्थात् प्रान्तीय शासन की सारी व्यवस्था कुछ ऐसे ढंग की रक्खी गई

है कि वह देखने में तो पूरी तरह से प्रतिनिधिसत्तात्मक जान पड़ती है, लेकिन वह उसी सीमा तक प्रतिनिधि-सत्तात्मक रह सकती है, जिस सीमा तक गवर्नर की इच्छा से उसका विरोध न हो। एक तो व्यवस्थापक-मंडल और मन्त्री-मंडल के अधिकार यों ही बहुत संकुचित हैं। तिस पर गवर्नर को इतने विस्तृत अधिकार दे दिये गये हैं कि वह जब जो काम चाहे, बिना किसी प्रकार की बाधा या विरोध के कर सकता है। और इस अंश में यह नवीन शासन बहुत कुछ स्वेच्छा-मूलक भी हो सकता है। शासन और आय-व्यय सम्बन्धी जितने महत्वपूर्ण अधिकार हैं, उन सबसे व्यवस्थापक-मंडल और मंत्री-मंडल वंचित रक्खे गये हैं।

न्याय-विभाग—भारत के न्याय-विभाग की और सारी व्यवस्था तो पहले की तरह ज्यों-की-त्यों रक्खी गई है, पर इसमें संघ-न्यायालय नाम का एक सर्वोच्च न्यायालय और बढ़ा दिया गया है। इसमें छः तक जज रह सकते हैं, पर इस समय तीन ही जज हैं। यदि संघ के प्रान्तों या देशी राज्यों का कोई कानूनी झगड़ा खड़ा होगा तो उसका निर्णय इसी न्यायालय मे होगा। यही न्यायालय यह निश्चित करेगा कि नये विधान के अनुसार संघ, प्रान्तीय सरकार और देशी राज्यों के क्या अधिकार हैं और इसका निर्णय सर्व-मान्य होगा। इस न्यायालय में हाईकोर्टों के ऐसे फैसलों की अपील भी हो सकेगी जिनके सम्बन्ध में हाईकोर्ट यह निश्चय कर दे कि इसमें शासन-विधान से सम्बन्ध रखनेवाला कोई महत्वपूर्ण कानूनी प्रश्न विचारणीय है।

संघ-शासन—नये विधान मे सारे भारत के लिए एक ऐसे संघ-शासन की योजना है जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी राज्यों का एक संघ होगा। लेकिन इसमें खास शर्त्त यह रक्खी गई है कि आगे चलकर नई राज्य परिषद् या काउन्सिल आफ स्टेट तब

बनेगी, जब उसमे उतने देशी राज्य सम्मिलित होना स्वीकृत कर लेंगे, जितनो को उसके लिये कम-से-कम ५२ सदस्य चुनने का अधिकार होगा और जिनकी आबादी सारे देशी राज्यो की आबादी की कम-से-कम आधी होगी। उस अवस्था में ब्रिटिश पार्लमेण्ट इस आशय का एक प्रस्ताव सम्राट् की सेवा मे उपस्थित करेगी और तब सम्राट् द्वारा इस संघ-शासन की स्थापना की घोषणा होगी। देशी राज्यो मे लगभग ८ करोड़ प्रजा बसती है; और जब ४ करोड़ की आबादी के देशी राज्य संघ-शासन मे सम्मिलित होना स्वीकृत कर लेगे, तब यह नया शासन आरम्भ होगा। ब्रिटिश सरकार भारत मे बहुत जल्दी संघ सरकार स्थापित करना चाहती थी और इसी लिए वह देशी राज्यो को इसके लाभ बतलाने और उन्हे इसके लिए राजी करने के प्रयत्न में लगी हुई थी। यदि केवल बहुत बड़ी-बड़ी आबादीवाले पाँच-सात देशी राज्य मिलकर संघ-शासन मे सम्मिलित होना चाहेंगे, तो भी संघ-शासन की इसलिए स्थापना नहीं हो सकेगी कि दूसरी शर्त्त के मुताबिक इसके लिए इतने राज्य तैयार होने चाहिएँ जो कुल मिलाकर ५२ सदस्य काउन्सिल आफ स्टेट मे भेज सकें। ऐसे राज्यों को एक खास सरकारी शर्त्तनामा मंजूर करना पड़ेगा और यह घोषणा करनी पड़ेगी कि हम स्वयं भी और अपने उत्तराधिकारियो की ओर से भी संघ मे सम्मिलित होना चाहते हैं और अपने राज्य मे इस शर्त्तनामे की सब बातो की पाबन्दी करना मंजूर करते हैं; और अपने यहाँ की कुछ विशिष्ट बातों की व्यवस्था सम्राट्, गवर्नर-जनरल, संघीय व्यवस्थापक-मंडल, संघ-न्यायालय और संघीय रेल्वे विभाग के अधीन करते हैं। आरम्भ मे जो देशी राज्य संघ मे सम्मिलित हो जायेंगे, वे तो हो ही जायँगे। लेकिन बाद मे जो राज्य उसमे सम्मिलित होना चाहेंगे, वे संघ का निर्माण होने से बीस बरस

के अन्दर नही हो सकेंगे। उस अवस्था में उनके लिए पहले संघीय व्यवस्थापक-मंडल की स्वीकृति की भी आवश्यकता होगी।

संघीयशासन-व्यवस्था प्रचलित होने पर भारत-मन्त्री की इण्डिया काउन्सिल तोड़ दी जायगी, पर उसके कुछ परामर्शदाता अवश्य रहा करेगे। इसके सिवा भारत-मन्त्री का वेतन और उसके विभाग का व्यय भी भारत सरकार न देगी, बल्कि वह ब्रिटिश सरकार के कोष से दिया जायगा। अपने परामर्शदाताओं की नियुक्ति भारत-मन्त्री स्वयं करेगा। उनमे से आधे ऐसे होगे जो कम-से-कम दस वर्ष तक भारत सरकार की नौकरी कर चुके होगे। भारत के शासन सम्बन्धी सब काम करने के लिए यहाँ गवर्नर-जनरल रहेगा, जिसकी नियुक्ति स्वयं सम्राट् करेंगे। देशी राज्यों से सम्बन्ध रखनेवाली बातो की व्यवस्था के लिए एक वाइसराय भी रहा करेगा। परन्तु यदि सम्राट् चाहे तो इन दोनो पदों पर एक ही व्यक्ति को भी नियुक्त कर सकते हैं।

यह भी निश्चय हुआ था कि संघीय-शासन स्थापित होजाने के बाद गवर्नर-जनरल की काउन्सिल नही रह जायगी, बल्कि उसके स्थान पर उसका एक मन्त्री-मंडल होगा, जिसका नाम काउन्सिल आफ मिनिस्टर्स होगा। जिन विषयो मे गवर्नर-जनरल को विशेष अधिकार प्राप्त हैं, उन्हे छोड़कर बाकी विषयों में मन्त्री-मंडल उसे सहायता या परामर्श देगा। इसमें अधिक-से-अधिक दस मन्त्री हो सकेंगे। गवर्नर-जनरल को इस बात का पूरा अधिकार होगा कि वह जो काम चाहे, वह बिना मन्त्रियो से परामर्श लिये केवल अपनी इच्छा से ही कर सके। अपने मन्त्री भी वही चुनेगा और जब तक चाहेगा, उन्हें उनके पद पर रहने देगा। सेना, धर्म, पर-राष्ट्र और जंगली जातियों के सम्बन्ध में सब काम गवर्नर-जनरल अपनी इच्छा के अनुसार

करेगा। इस सम्बन्ध मे यदि वह उचित समझेगा तो अपने लिए तीन परामर्शदाता भी रख सकेगा। देश में शान्ति की रक्षा, संघ सरकार की आर्थिक दृढ़ता और साख की रक्षा, सरकारी कर्मचारियो के अधिकारो और उचित हितो की रक्षा, देशी नरेशो के अधिकारो और मान-मर्यादा की रक्षा तथा इसी प्रकार की कुछ और बातो के लिए वस्तुतः वही उत्तरदायी समझा जायगा और ऐसे मामलो मे जब चाहे, तब दखल दे सकेगा।

संघीय व्यवस्थापक मण्डल—संघीय व्यवस्थापक मंडल में दो हाउस या सभाएँ होगी। उनमें से बड़ी सभा राज्य परिषद् या काउन्सिल आफ स्टेट कहलावेगी और छोटी सभा का नाम संघीय व्यवस्थापक सभा या फेडरल एसेम्बली होगा। राज्य परिषद् मे अधिक-से-अधिक २६० सदस्य होंगे, जिनमे से १५६ ब्रिटिश भारत के और १०४ देशी राज्यो के सदस्य होगे। प्रान्तीय काउन्सिलो की तरह यह भी स्थायी संस्था होगी और इसके एक-तिहाई सदस्य हर तीसरे वर्ष चुने जायँगे। ब्रिटिश भारत के १५६ सदस्यों मे से १५० जनता द्वारा निर्वाचित होगे और ६ सदस्य नामाकित होगे। भिन्न-भिन्न प्रान्तो से उनकी जन-संख्या के अनुसार उनकी काउन्सिलो और एसेम्बलियो से इसके प्रतिनिधि चुने जायँगे।

फेडरल एसेम्बली मे अधिक से अधिक ३७५ सदस्य होगे, जिनमें से २५० ब्रिटिश भारत के और १२५ देशी राज्यो के सदस्य होंगे। ब्रिटिश भारत के सदस्यो का चुनाव हर पाँचवे वर्ष प्रान्तो की एसेम्बलियो के द्वारा हुआ करेगा। इस एसेम्बली के स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे भी बहुत सी वही बाते हैं जो प्रान्तीय एसेम्बलियों के सम्बन्ध में पहले दी जा चुकी हैं। अर्थात् इसमें भी मुसलमानो, युरोपियनो, ईसाइयो और व्यापार तथा उद्योग-धन्धोवालो को उनकी जन-संख्या के अनुपात

से कहीं अधिक प्रतिनिधित्व मिलेगा।

देशी राज्यो की ओर से जो सदस्य आवेंगे, उनकी नियुक्ति वहाँ के नरेशों के द्वारा होगी। इसके लिए अलग-अलग राज्यों की, उनकी हैसियत के अनुसार, १७ श्रेणियाँ बनाई गई हैं। किसी राज्य को १, किसी को २, और किसी को ५ सदस्य तक भेजने का अधिकार होगा; और छोटे-छोटे कई राज्यो को मिलकर केवल एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जब उतने राज्य संघ में सम्मिलित होना स्वीकृत कर लेंगे, जितनों को सब मिलाकर ५२ सदस्य राज्य परिषद् में भेजने का अधिकार होगा, तब संघीय-शासन प्रचलित किया जायगा।

संघ का निर्माण हो जाने पर उस संघीय व्यवस्थापक-मंडल का कार्य आरम्भ होगा, जिसके दो हाउसों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह मंडल सारे भारत के लिए संघीय व्यवस्थापक मंडल, सेना, टकसाल, तार, सरकारी नौकरियो, काशी और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयो, आयात-निर्यात, हवाई जहाजों, नमक, आय-कर, उत्तराधिकार-कर और संघीय आय के साधनो आदि के सम्बन्ध मे कानून बना सकेगा। प्रान्तों के व्यवस्थापक मंडल जिन विषयों के कानून बना सकते हैं, वे "प्रान्तीय विषय" कहलाते हैं और संघीय व्यवस्थापक मंडल जिन विषयों के कानून बना सकेगा, वे "संघीय विषय" कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय भी हैं जिनके सम्बन्ध मे यदि संघीय व्यवस्थापक मंडल कानून न बनावे तो प्रान्तीय व्यवस्थापक मंडलो को अधिकार होगा कि वे उस विषय के कानून बना सकें। ऐसे विषय "संयुक्त विषय" कहलाते हैं। इनमें से मुख्य विषय ये हैं—फौजदारी कानून, विवाह और वैवाहिक सम्बन्ध-विच्छेद, ठेका, दिवाला, चिकित्सा, छापेखाने,

मोटर, कारखाने, मजदूर-संघ, बिजली, बेकारी और बीमा आदि। इस प्रकार के कानूनों को अमल में लाने के बारे मे संघीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को कुछ हिदायतें भी कर सकेगी। प्रान्तीय विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले कानून संघीय व्यवस्थापक मंडल प्राय: उसी अवस्था मे बनावेगा, जब कि उसका सम्बन्ध एक से अधिक प्रान्तो के साथ हो। परन्तु युद्ध या अशान्ति आदि के दिनो में गवर्नर-जनरल की आज्ञा से संघीय मंडल को किसी एक प्रान्त या उसके किसी विशिष्ट विभाग के सम्बन्ध में भी कानून बनाने का अधिकार होगा। यदि प्रान्तीय मंडल के किसी कानून से संघीय मंडल के किसी कानून का विरोध हो, तो संघीय मंडल का कानून ही अमल में आवेगा। संघीय मंडल मे कोई ऐसा कानून नहीं पेश हो सकेगा जो ब्रिटिश भारत के लिए पार्लमेण्ट के बनाये हुए किसी कानून को या पुलिस सम्बन्धी किसी कानून को रद् करता हो या गवर्नर-जनरल के अधिकारो को कम करता हो या जिससे ब्रिटिश भारत के बाहर के आदमियो और कम्पनियों पर कोई अतिरिक्त कर लगता हो, आदि। परन्तु यदि इस तरह का कोई कानून गवर्नर-जनरल या सम्राट् स्वीकृत कर ले तो वह अमल में आ सकेगा। कई विशेष अवस्थाओं में स्वयं गवर्नर-जनरल अपनी इच्छा से भी कोई कानून बना सकता है या किसी प्रकार की आज्ञा प्रचलित कर सकता है। और यदि किसी समय उसे यह विश्वास हो जाय कि इस नवीन विधान के अनुसार संघ सरकार का काम नहीं चल सकता, तो वह सारे देश का शासन अपने हाथ मे भी ले सकता है।

संघ, प्रान्त और देशी राज्य—प्रत्येक प्रान्त और देशी राज्य को ऐसी व्यवस्था करनी होगी कि संघ के शासन-कार्यो मे किसी प्रकार की बाधा न हो। साथ ही सारे भारत के लिए

संघ जो कानून बनावेगा, उसका पालन करना सबके लिए आवश्यक होगा। गवर्नर को यह अधिकार होगा कि प्रान्तों और राज्यों के शासन के सम्बन्ध में कुछ विशेष अवस्थाओं में गवर्नरों और राजाओं को कुछ हिदायतें कर सके। आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर-जनरल एक ऐसी काउन्सिल भी बना सकेगा जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों की पारस्परिक विरोध सम्बन्धी बातों की जाँच करके उन्हें दूर करने के उपाय बतलावे। आयात और निर्यात-कर, अफीम, तम्बाकू, नमक, आय-कर, डाक, तार आदि की सारी आय संघ सरकार लेगी। अदालतों के रसूम, जंगल, आब-पाशी, मादक द्रव्यो और मालगुजारी आदि की आय प्रान्तीय सरकारों की होगी। प्रान्तीय मदो पर संघ सरकार अपनी आय बढ़ाने के लिए अतिरिक्त कर भी लगा सकेगी। जिन प्रान्तों का व्यय उनकी आय से कम होगा, उन्हें संघ सरकार कुछ आर्थिक सहायता भी देगी। अब भारत-मन्त्री को समस्त भारत की आय की जमानत पर ऋण लेने का अधिकार न रहेगा। हाँ, संघ सरकार और प्रान्तीय सरकारे अपनी-अपनी आय की जमानत पर ऋण ले सकेगी। प्रान्तो और राज्यों को संघ सरकार स्वयं भी ऋण दे सकेगी और अपनी जमानत पर औरों से भी दिलवा सकेगी। अब तक भारत-मन्त्री के नाम पर जितने ऋण लिये गये हैं, वे सब भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों के नाम पर हो जायँगे। किसी देशी राज्य को कितना सैनिक व्यय संघ सरकार के कोष में भेजना पड़ेगा या किसी देशी राज्य से ब्रिटिश भारत मे आनेवाले माल पर कितना आयात-कर लगेगा, इसका निर्णय उस शर्तनामे मे होगा, जो किसी देशी राज्य के संघ सरकार मे सम्मिलित होने के समय दोनों पक्षो से स्वीकृत होगा। संघीय व्यवस्थापक मण्डल में या तो स्वयं देशी राजा और या उनके नामजद किये हुए प्रतिनिधि रहेंगे।

समीक्षा—ऊपर बतलाया जा चुका है कि इस नये विधान क प्रान्तीय शासन और व्यवस्थावाला अंश सन् १९३७ से प्रचलित हो गया है। उसके अनुसार कुछ समय तक ११ प्रान्तों में से उड़ीसा, आसाम, बिहार, संयुक्त प्रान्त, सीमा प्रान्त, मध्य प्रदेश, बम्बई और मद्रास में तो कांग्रेसी मंत्री-मंडल काम कर रहे थे और बाक़ी बंगाल, पंजाब, और सिध मे ऐसे संयुक्त मंत्री-मडल काम कर रहे हैं, जिनमे अधिकतर मंत्री या तो मुस्लिम लीग के अनुयायी और या मुसलमान है। कांग्रेसी मंत्री-मण्डलो में भी मुसलमान थे, लेकिन वही मुसलमान थे, जो कांग्रेस के सिद्धांतों को पूरी तरह से मानते थे। कांग्रेसी मंत्री-मंडलों ने प्रजा के हित के जो काम किए थे, उनका संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनकी देखा-देखी अन्य प्रान्त भी उसी प्रकार के कुछ कार्य करने लगे थे। प्रायः दो वर्षों तक प्रान्तीय शासन का जो अनुभव हुआ, उससे उस अनुमान की बहुत कुछ पुष्टि हुई जो इस विधान के बनने के समय किया गया था। यह तो निश्चित है कि भारतवासियों को पहले से कुछ अधिक अधिकार अवश्य मिले हैं, और यदि इन अधिकारो का ठीक तरह से उपयोग किया जाय तो भारतीय जनता का बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। लेकिन इस सम्बन्ध मे सबसे अधिक आपत्तिजनक बात यही है कि गवर्नरो और गवर्नर-जनरल को पहले की अपेक्षा बहुत अधिक अधिकार मिल गये हैं; और पहले भारत पर जो बन्धन थे, केवल वही दृढ़ नहीं किये गये है, बल्कि उनकी संख्या मे भी कुछ वृद्धि हुई है। एक ओर देश की आन्तरिक व्यवस्था मे लोगो को थोड़ी बहुत स्वतन्त्रता मिली और दूसरी ओर समस्त देश की परतन्त्रता कुछ और बढ़ी। यदि यही संघ शासन प्रचलित होगा, तो यह परतंत्रता और भी बढ़ जायगी; और इसी भय से

कांग्रेस आरम्भ से ही उस संघ शासन का घोर विरोध कर रही थी जो इस नवीन विधान के अनुसार साल दो साल मे प्रचलित होनेवाला था। केवल कांग्रेस ही नहीं, बल्कि लिबरल भी इस नई व्यवस्था के घोर विरोधी थे। विरोध तो मुसलमानों और मुस्लिम लीग का भी था और है, परन्तु वह बहुत ही संकुचित दृष्टिकोण से था। देशी राजे-महाराजे भी जल्दी इस संघ-शासन में सम्मिलित होने के लिए तैयार नही हो रहे थे; और इसका कारण यह था कि वे समझते थे कि इससे हमारी वर्त्तमान अबाध्य स्वतन्त्रता में बाधा होगी। इस समय ब्रिटिश भारत में एक प्रकार की परिमित प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है और देशी राज्यों मे स्वेच्छापूर्ण एकतन्त्र प्रचलित है। ये दोनों एक गाड़ी के दो ऐसे पहिये है जो एक दूसरे से भिन्न दिशा को जा रहे है। अतः इन दोनो का संयोग बहुत विलक्षण होगा। नवीन विधान के अनुसार देशी राजाओ को अधिकार होगा कि वे सघीय व्यवस्थापक मंडल में अपने नामजद किये हुए प्रतिनिधि भेजे। ऐसे नामजद अवश्य ही प्रगति-विरोधी होगे। फिर जब तक मुसलमानो के साथ कांग्रेस का समझौता नहीं हो जायगा, तब तक वे भी हर बात मे सदा अड़ंगा ही लगाते रहेगे और कोई काम ठीक तरह से न होने देंगे। कांग्रेस यह चाहती है कि देशी राज्यों की प्रजा को भी उसी प्रकार के अधिकार मिले, जिस प्रकार के अधिकार ब्रिटिश भारत की प्रजा को हैं और वहाँ भी उत्तरदायित्वपूर्ण प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित हो। उस अवस्था मे संघीय व्यवस्थापक मंडल मे देशी राज्यो से प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि आ सकेंगे—नरेशो के नामजद किये हुए प्रतिनिधि नहीं आवेंगे। यद्यपि पहले भी कुछ कारणो से मुस्लिम लीग संघ शासन का विरोध करती थी, पर अब उसका विरोध इसलिए और भी बढ़ गया है कि उसे भय है कि देशी राज्यों

में प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित हो जाने पर संघीय व्यवस्थापक-मंडल मे कांग्रेस का बहुमत हो जायगा, जिसे वे स्वार्थवश विशुद्ध हिन्दुओ का बहु-मत बतलाते हैं। कांग्रेस तो अपने कार्यो मे कभी साम्प्रदायिकता का कोई विचार आने नहीं देती और न वह राजनीतिक क्षेत्र मे साम्प्रदायिकता का भाव रहना ही अच्छा समझती है। पिछले वर्षो जिन प्रान्तो में कांग्रेसी शासन प्रचलित था, उनमे एक भी काम ऐसा नहीं हुआ, जिसमे किसी प्रकार की साम्प्रदायिकता की गन्ध हो। लेकिन मुस्लिम लीग फिर भी ऐसे प्रान्तो के मन्त्री-मण्डलो पर बराबर ऐसे मिथ्या अभियोग लगाती रही है, जिनका कोई सिर-पैर नहीं होता था। इसके सिवा अधिकांश कांग्रेसी प्रान्तो में साम्प्रदायिकता के नाम पर आये दिन जो दंगे होते रहते थे, वे भी वस्तुतः किसी साम्प्रदायिक कारण से नहीं होते थे, बल्कि उनका मूल भी राजनीतिक होता था। बात सिर्फ यह है कि पुरानी सरकारों ने इधर पन्द्रह-बीस बरसो से साम्प्रदायिकता का जो बीज बो रक्खा था, उसीके कुफल अब फल रहे हैं। विशेषतः इस नये विधान मे भारत के अधिक-से-अधिक खण्ड करने का जो प्रयत्न किया गया है और हर जगह, यहाँतक कि बगाल, पंजाब और सिध में भी, जहाँ मुसलमानों की आबादी अधिक है, मुसलमानो को उचित से जो बहुत अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया है, उससे कुछ स्वार्थी मुस्लिम नेता अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। कांग्रेस तो सभी को उचित अधिकार देना चाहती है, परन्तु मुस्लिम लीग आधे से भी अधिक अधिकार और नौकरियाँ आदि सिर्फ इसलिए मुसलमानो को दिलाना चाहती है कि जिस से आगे चलकर उन्हे सारे भारत मे इस्लाम का प्रचार करने का अवसर मिले। वे यह समझते है कि भारत मे पहले मुसलमानों

का राज्य था और उस समय इस्लाम धर्म का यहाँ जोरो से प्रचार होता था। अब यदि अंग्रेजो के हाथ से अधिकार निकले तो वह फिर मुसलमानो के ही हाथ मे आना चाहिए—हिन्दुओं के हाथ मे नहीं जाना चाहिए, क्योंकि वे उसके अधिकारी और पात्र नही हैं। यह बात चाहे वे लोग खुलकर न कहते हो, लेकिन फिर भी इतना तो वे अवश्य ही स्पष्ट रूप से कहने लग गये हैं कि इस्लाम कोई धर्म नहीं, बल्कि एक संस्कृति है और हम सारे भारत मे उस संस्कृति का प्रचार करेंगे। इन सब बातो का मुख्य कारण यही है कि मुसलमानों मे शिक्षितो और समझदारो की संख्या बहुत ही कम है और उनमें जो लोग अपना नेतृत्व बनाये रखना चाहते है, वे अनेक प्रकार की मिथ्या और आवेशपूर्ण बातें कहकर अपने अनुयायियो को उत्तेजित करते रहते है और देश मे शांति नही स्थापित होने देते। अवश्य ही यह अवस्था बहुत दिनो तक नहीं रह सकती। जब मुसलमानों में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार होगा और उन्हे आधुनिक जगत् की परिस्थितियो का ज्ञान होगा, तब वे अवश्य ही समझने लगेंगे कि इस बीसवी शताब्दी मे धर्म और संस्कृति के प्रचार का प्रयास वस्तुत: ढोंग और दम्भ ही है; और इस तरह की बातों को देश की राजनीतिक प्रगति के मार्ग मे कभी बाधक नही होना चाहिए।

संघ-शासन के दूसरे विरोधी हमारे यहाँ के अधिकांश देशी नरेश थे। उनके विरोध का कारण भी मुस्लिम नेताओ की तरह व्यक्तिगत स्वार्थ ही था। वे बहुत दिनो से नितान्त स्वेच्छापूर्ण शासन करते आये हैं, प्रजा पर अनेक प्रकार के अत्याचार करते आये हैं और प्रजा से एकत्र किये हुए धन का अपने भोग-विलास मे मनमाना उपयोग करते आये हैं। यह ठीक है कि कुछ देशी नरेश इसके अपवाद हैं और वे अपने राज्य का बहुत

ही अच्छी तरह शासन करते हैं; परन्तु अधिकांश नरेश ऐसे ही हैं, जिन्हे प्रजा के हितो की अपेक्षा अपने सुख और अधिकार का ही अधिक ध्यान रहता है। वे यह नहीं चाहते कि हमारे अनियन्त्रित अधिकार किसी प्रकार नियन्त्रित हो। यद्यपि ब्रिटिश अधिकारियों के द्वारा समय-समय पर उन्हे संघ-शासन मे सम्मिलित होने के लाभ बतलाये जाते थे और उन्हे उसमें सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता था, लेकिन वे बराबर आगा-पीछा ही कर रहे थे। वे नये संघ-शासन के विधान की एक-एक बात बहुत बारीकी से जाँच रहे थे और देख रहे थे कि हम पर ब्रिटिश सरकार या संघीय व्यवस्थापक-मंडल का नियन्त्रण तो नहीं हो जायगा। वे अपने हाथ के अधिकार न तो अपनी प्रजा के प्रतिनिधियो के हाथ मे ही देना चाहते थे और न संघीय व्यवस्थापक-मंडल के हाथ मे ही।

तात्पर्य यह कि नया विधान और विशेषतः इसका संघ-शासनवाला अश बिलकुल भानमती का पिटारा था, जिसमे बहुत से परस्पर-विरोधी तत्व एक में भरने का प्रयत्न किया गया है और जिसकी सहायता से ब्रिटिश सरकार बड़ी बडी करामाते दिखलाने का वादा करती थी। ब्रिटिश सरकार चाहती है कि भारत हमारे चंगुल से न निकलने पावे। कांग्रेस चाहती है कि देश के सब अधिकार पूरी तरह से प्रजा के प्रतिनिधियो के हाथ मे आ जायँ। देशी नरेश चाहते है कि हमारे अधिकार अनियन्त्रित और अमर्यादित बने रहे और हमारे ऐश-आराम में कमी न होने पावे। मुस्लिम लीग चाहती है कि सारे भारत पर फिर से मुसलमानों का राज्य हो। मजदूर और किसान चाहते हैं कि हमें अपने पूरे अधिकार मिले। ब्रिटिश व्यापारी चाहते हैं कि भारत में हमारा माल उसी तरह बिकता रहे, जिस तरह पहले बिकता था। अँग्रेज अधिकारी चाहते हैं कि हमारा प्रभुत्व

ज्यों-का-त्यों बना रहे। इसी प्रकार के और भी अनेक ऐसे भिन्न-भिन्न तथा परस्पर-विरोधी तत्व है जिनका समन्वय करने का विधान म कुछ ऐसा प्रयत्न किया गया था, जो सफल होता हुआ दिखाई नहीं देता था।

इस समय भारत पर ग्रेट ब्रिटेन ने बलपूर्वक अधिकार कर रक्खा है; और सभी भारतीय उस अधिकार के विरोधी है। भारत मे राजभक्तो का भी एक वर्ग अवश्य है, जिसमें अधिकतर राजे-महाराजे, जमींदार और दौलतमन्द आदमी है। ऐसे लोगो को यह डर है कि यदि देश मे राष्ट्रीय भावो का प्रचार होगा, तो हमारे बहुत से अधिकार छिन जायँगे और हमें अपने वैभव से हाथ धोना पड़ेगा। प्रजा का बहुत बड़ा अंश कांग्रेस क साथ में है, जिसमें अनेक मुस्लिम राष्ट्रीय संस्थाएँ भी हैं। लिबरलो की सख्या बहुत ही कम है और उनमे अधिकतर बड़े आदमी और नेता ही हैं। यद्यपि कुछ नवयुवक राष्ट्रीय नेता कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के ही प्रचार के पक्षपाती हैं, तथापि कम्यूनिस्टवाद का कोई संघटन यहाँ नहीं है और न ब्रिटिश सत्ता क रहते हुए हो ही सकता है। स्वयं कॉंग्रेस में भी कई ऐसे वर्ग हैं जो सामाजिक और आर्थिक विषयो मे एक दूसरे से बहुत ही भिन्न प्रकार के विचार रखते हैं। समाजवाद और साम्यवादी सिद्धान्तो का भी लोगों मे कुछ प्रचार होने लगा है। तो भी अभी तक अधिकतर लोग महात्मा गान्धी के शान्तिमय और अहिंसात्मक असहयोग तथा सविनय अवज्ञा के सिद्धान्तो के ही पक्षपाती है। स्वयं कांग्रेस के सदस्यों मे भी अनेक दोष आ गये है और उनके निर्वाचनो मे अनेक ऐसे उपायों का अवलम्बन होने लगा है जो कभी प्रशंसनीय नहीं कहे जा सकते। कांग्रेस का ध्यान इस ओर महात्मा गांधी ने जोरदार शब्दों में दिलाया है और इसके सुधार के कुछ उपाय सोचे भी गये हैं। प्रान्तो की कांग्रेसी सरकारें जनता

की आर्थिक और सामाजिक अवस्था सुधारने के कई अच्छे आयोजन कर गई हैं। तात्पर्य यह है कि इस समय सारा देश एक नये साँचे में ढल रहा है और अभी देश के भविष्य के सम्बन्ध में इसके सिवा और कोई बात निश्चित रूप से नही कही जा सकती कि बहुत से लोग उसे उज्वल बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। लेकिन इस प्रयत्न की सफलता केवल उन्हीं लोगो के हाथ मे नहीं है, बल्कि वह और भी अनेक ऐसी बातो पर निर्भर करती है जो उनके नियन्त्रण से बाहर हैं।

एक बात और है। बहुत से अँग्रज भी यही चाहते हैं और शिक्षित भारतवासी भी यह चाहते हैं कि भारत मे पाश्चात्य देशो की तरह प्रतिनिधि-सत्तात्मक पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली प्रचलित हो। परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या यही प्रणाली भारतीय स्वराज्य के लिए सबसे अधिक आदर्श और अनुकरणीय है? अनेक पाश्चात्य विचारशीलो का मत है कि यह पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली भी नितान्त निर्दोष नही है। इसमे भी अनेक दोष है। इसके सिवा कुछ लोगो का यह भी मत है कि पाश्चात्य देशो मे यह प्रणाली अनेक अशो मे विफल सिद्ध हो रही है। अतः ऐसी प्रणाली का अनुकरण कहाँतक वांछनीय और कल्याणकारी हो सकता है? फिर इस प्रणाली के लिए सबसे अधिक आवश्यक यह है कि प्रजा पूरी तरह से शिक्षित हो, उसे भिन्न-भिन्न राजनीतिक प्रणालियों का अच्छा ज्ञान हो और वह यह समझ सकती हो कि हमारा कल्याण किन बातो मे है और उसका साधन किन लोगो के हाथों से हो सकता है। भारत की अधिकांश जनता अभी नितान्त अशिक्षित है; और यदि हम क्षमा किये जायँ तो कह सकते हैं कि वह अभी मताधिकार का ठीक-ठीक उपयोग करने मे समर्थ नहीं है। कांग्रेस कहती है कि देश के सभी वयस्क पुरुषो को निर्वाचन मे मत देने का

अधिकार मिले। अंग्रेज कहते हैं कि इस मताधिकार का उपयोग केवल शिक्षित मतदाता ही कर सकते हैं। गोलमेज कान्फ्रेन्स मे महात्मा गान्धी ने यह अड़चन दूर करने के लिए प्रायः वही प्रणाली बतलाई थी, जो सोविएट रूस में प्रचलित है। उन्होंने कहा था कि सब देहातियो को मिलकर पहले अपने-अपने गाँव के प्रतिनिधि चुन लेने चाहिएँ और तब आगे का निर्वाचन उन प्रतिनिधियों के मत से होना चाहिए। लेकिन ब्रिटिश राजनीतिज्ञो ने इसीलिए इस सूचना का विरोध किया था कि इसमें सोविएटी तत्व वर्त्तमान था। लेकिन फिर भी इसमे कोई सन्देह नही कि देहातियो का मत जानने का इससे अच्छा उपाय, कम-से-कम वर्त्तमान परिस्थिति मे, दूसरा नही हो सकता। हम तो यही समझते है कि इस समय ब्रिटिश सरकार चाहे जो प्रणाली भारत पर लाद दे और उसके नेता चाहे जो प्रणाली स्वीकृत कर ले, परन्तु आगे चलकर जब भारतीय जनता शिक्षित और जाग्रत होगी, तब वह अपनी सरकार का स्वरूप आप ही निश्चित करेगी। तब तक शायद पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली की भी, अधिनायक-तन्त्र की भी और सोविएट प्रणाली की भी कुछ और परख हो जायगी और उनके गुण-दोष भी अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट हो जायँगे। इस समय की परिस्थिति को देखते हुए अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि शायद पार्लमेण्टरी शासन-प्रणाली की अपेक्षा भारत सोविएट शासन-प्रणाली ही अधिक पसन्द करेगा। सिर्फ भारत ही नही, सम्भव है कि संसार के अन्यान्य देश भी वही प्रणाली अच्छी समझे।

अतिरिक्त बातें—जब यूरोप मे दूसरा महायुद्ध हुआ, तब भारत सरकार भी और प्रान्तीय सरकारे भी देश से युद्ध के लिए मनमाने ढंग से सहायता लेने लगी और ब्रिटिश सरकार ने भी भारत को बिना उसके प्रतिनिधि मण्डलों का मत जाने ही युद्ध

में सम्मिलित कर लिया। कांग्रेस को यह बात पसन्द नहीं आई। जिन प्रान्तों मे कांग्रेसी शासन था, वहाँ के मन्त्री-मण्डलो के लिए विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई। वे युद्ध के कार्यों में बाधा भी नहीं दे सकते थे और सिद्धान्ततः उसमें सहायक भी नहीं हो सकते थे। इसलिए कांग्रेस ने निश्चय किया कि प्रान्तो से सब मन्त्री इस्तीफा देकर अलग हो जायँ। हाँ, एसेम्बलियो और काउन्सिलो के लिए जो लोग प्रजा के प्रतिनिधि-रूप मे निर्वाचित हुए हैं, वे अवश्य अपने-अपने पदो पर बने रहें। इसके अनुसार सभी कांग्रेसी प्रान्तो से कांग्रेसी मंत्री-मण्डल हट गये। उस समय उन प्रान्तों मे गवर्नरो ने अपने विशेषाधिकार से उन मन्त्रियो के स्थान पर अपनी इच्छा और पसन्द से कुछ लोगो को परामर्श-दाता नियुक्त कर लिया और अब उन सब प्रान्तो मे गवर्नरो का ही शासन चल रहा है।

युद्ध आरम्भ होने पर जब सरकार के सामने लोगो की ओर से और विशेषतः कांग्रेस की ओर से यह माँग रक्खी जाने लगी कि यदि युद्ध मे हमारा सहयोग अपेक्षित हो तो हमे उसके लिए उपयुक्त अधिकार भी मिलने चाहिएँ; और सरकार ने भी अच्छी तरह देख लिया कि नये एक्ट की संघवाली योजना देश में किसी को सन्तुष्ट नही कर सकी, तब भारत के बड़े लाट ने यह घोषणा कर दी कि हम अभी नये एक्ट की संघवाली योजना स्थगित करते हैं; और जब युद्ध समाप्त हो जायगा, तब इस विधान को कोई नया और सर्वसम्मत रूप देने का फिर से प्रयत्न किया जायगा। साथ ही इस समय सब दलो का सहयोग प्राप्त करने के लिए और सबके मत जानने के लिए बड़े लाट की काउन्सिल में कुछ और मेम्बर बढ़ाये जायेंगे और युद्ध-सम्बन्धी प्रयत्नों मे परामर्श लेने के लिए केन्द्र मे भी और प्रान्तो मे भी सब दलों में से कुछ लोगो की एक कमेटी बनाई जायगी। इधर

महीनों से बड़े लाट प्रयत्न मे लगे हुए हैं कि सब दल इस प्रस्ताव से सहमत हो जायँ और हम सब ख़ास-ख़ास दलो में से कुछ आदमियो को लेकर युद्ध का काम ठीक तरह से चलावें, और सारे संसार को यह दिखला दे कि भारतवासी हर तरह से इस युद्ध में हमारे साथ हैं। इसके लिए बड़े लाट ने, अनेक बार महात्मा गान्धी और कांग्रेस के दूसरे बड़े नेताओ के साथ भी और मुस्लिम लीग, हिन्दू-महासभा, लिबरल दल और सिक्खो आदि के प्रमुख नेताओ से बहुत सी बातें की हैं। परन्तु अभी तक कोई निश्चय नहीं हो सका है। अनेक दलो की और विशेषतः मुस्लिम लीग की मॉगे इतनी ज्यादा बढ़ गई है कि वे किसी तरह पूरी ही नहीं की जा सकतीं।

युद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति स्पष्टरूप से यह है कि ब्रिटिश सरकार को जहाँ तक हो सके, इस विकट समय में तंग नहीं करना चाहिए। ऐसी अवस्था में जबकि ब्रिटेन एक ऐसे भीषण युद्ध में लगा है, जिसके साथ उसके जीवन और मरण का प्रश्न सम्बद्ध है, कांग्रेस को उसके सामने कोई नई अड़चन नहीं खड़ी करनी चाहिए। पर हाँ, साथ ही ब्रिटिश सरकार को भी स्वतन्त्रता-प्रेमी भारत-वासियो के मनोभावो पर किसी प्रकार का आघात नही करना चाहिए। इधर जब से युद्ध आरम्भ हुआ है, तबसे भारत-रक्षा कानून के अनुसार सारे देश मे सैकड़ो-हजारो कांग्रेसी गिरफ्तार करके जेल भेज दिए गये है और भाषण तथा लेखन-स्वातन्त्र्य का पूरा-पूरा अपहरण हो चुका है। महात्मा गांधी कहते है कि यदि सचमुच ब्रिटिश सरकार प्रजातन्त्र की रक्षा के लिए लड़ रही है, तो भारत में उसे प्रजातन्त्र के मूल सिद्धान्तो की रक्षा करने के लिए यहाँ भी सब को भाषण और लेखन की पूरी स्वतन्त्रता देनी चाहिए, और जिन लोगो को उसने राजनीतिक कारणों से गिरफ्तार किया

है, उन्हे छोड़ देना चाहिए। इससे अधिक अभी कांग्रेस की तरफ से कोई माँग नहीं है। हाँ, जब युद्ध समाप्त हो जाय, तब भारत को पूरी स्वतन्त्रता मिल जानी चाहिए और उसके भावी संघटन का निश्चय विधान-सम्मेलन के द्वारा होना चाहिए। जो कुछ निश्चय हो, वह प्रजा के प्रतिनिधियो का किया हुआ हो, उन लोगों का न हो जिन्हें सरकार अपनी तरफ से और मनमाने तौर पर इस काम के लिए निमन्त्रित करे। पर सरकार ने कांग्रेस की यह माँग भी मंजूर नही की और वह भारतवासियों को युद्ध-काल मे भाषण-स्वातन्त्र्य देने को तैयार नही है।

लेकिन मुस्लिम लीग का रुख कुछ और ही है। पहले तो जब कांग्रेसी मन्त्री-मंडलो ने पद-त्याग किया, तब उसकी तरफ से कुछ स्थानो मे मुक्ति-दिवस मना कर तुच्छ मनोवृत्ति का परिचय दिया गया। इस बात पर प्रसन्नता प्रकट की गई कि सात प्रान्तो मे कांग्रेसी अधिकार उठ गया और फिर सारा अधिकार गवर्नरो के हाथ में चला गया। अवश्य ही मुक्ति-दिवस केवल कांग्रेस को नीचा दिखाने, मुसलमानो के मन मे उसके प्रति विद्वेष उत्पन्न करने और उन्हे और भी अधिक संख्या मे लीग की तरफ आकृष्ट करने के लिए मनाया गया था। यद्यपि देश के प्रायः सभी समझदारो ने लीग के इस निश्चय की घोर निन्दा की; परन्तु लीग ने मुक्ति-दिवस मनाकर ही छोड़ा, फिर चाहे वह दिवस बहुत ही थोड़े स्थानो मे और बहुत ही थोड़े मुसलमानो ने मनाया हो।

इस बीच में लीग ने दूसरा अनुचित काम यह किया कि अपनी लाहौरवाली अन्तिम बैठक मे पाकिस्तानवाला प्रस्ताव स्वीकृत किया। अब लीगी नेता इस बात पर अड़े हैं कि भारत के दो टुकड़े कर दिये जायँ और मुसलमानो के प्रान्त अलग और स्वतन्त्र रहे। बहुत से समझदार और

देश-भक्त मुसलमानों को लीग का यह रुख बहुत ह खटका और उन्होने दिल्ली में एक बहुत बड़ी अखिल भारतीय सभा करके लीग के इस निश्चय की निन्दा की। यह महासभा देशभक्त और राष्ट्रवादी मुसलमानों की सात-आठ बड़ी-बड़ी संस्थाओ के प्रयत्न से हुई थी; और अब इस महासभा की ओर से समस्त राष्ट्रवादी और देश-प्रेमी मुसलमानों का एक जबरदस्त संघटन करने का प्रयत्न हो रहा है। लेकिन फिर भी इधर दो-तीन बार भारत सरकार ने भी और भारत-मन्त्री ने भी मौके-बे-मौके मुस्लिम लीग की ही पीठ ठोकी और प्रकारान्तर से उनकी पाकिस्तानी योजना को युक्ति-संगत बतलाया। इसका पूरा-पूरा दुष्परिणाम अब इस रूप मे दिखाई दिया है कि मुस्लिम लीग चाहती है कि बड़े लाट की एक्जिक्यूटिव काउन्सिल में जो नई जगहें बढ़े, उनमे से आधी लीग के बतलाये हुए आदमियो को मिले और दूसरी जगहे भी उन्हीं लोगो को दी जायँ जिन्हे लीग मंजर करे। साथ ही एक्जिक्यूटिव काउन्सिल के सदस्यो में कार्य और अधिकार आदि का जो विभाग हो, वह भी मुस्लिम लीग की स्वीकृति से ही हो। मुस्लिम लीग की यह नीति कुछ एंग्लो-इंडियन समाचारपत्रों को भी इतनी बुरी लगी है कि उन्होंने इसकी घोर निन्दा की है। और इन मे से कुछ समाचारपत्र ऐसे भी है जो प्राय: समय-समय पर मुस्लिम लीग के देशद्रोही प्रयत्नो की प्रशंसा करते रहे हैं।

तो भी मुस्लिग लीग जानती है कि इस समय सरकार को मुसलमानों की सहायता और सहानुभूति की बहुत बड़ी आवश्यकता है। और इसी लिए वह ब्रिटिश सरकार से उसका पूरा-पूरा दाम भी वसूल करना चाहती है। बड़े लाट मुस्लिम लीग को अधिक-से-अधिक जो कुछ देना चाहते थे या दे सकते थे, उसे भी लीग ने ठुकरा दिया है। तो भी आशा की जाती है कि

बड़े लाट की ओर से एक बार फिर लीग को मिलाने का प्रयत्न किया जायगा। अभी बात-चीत चल रही है और निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि ऊँट किस करवट बैठेगा।

लिबरल दल, हिन्दू महासभा, सिक्ख तथा और कई दल तथा वर्ग भी किसी-न-किसी रूप मे सरकार को सहायता करने के लिए तैयार है। पर सभी की कुछ-न-कुछ माँगें भी हैं। जो हो, अभी भारत की अवस्था बहुत ही डॉवाडोल है। कई दिशाओ से उस पर आक्रमणों की सम्भावना बतलाई जाती है। सारा देश नितान्त अरक्षित अवस्था मे पड़ा है और तिस पर घर की जबरदस्त फूट है। यह फूट कुछ तो स्वार्थ के कारण है, कुछ बहकावे मे आने के कारण और कुछ हाथ रँगने की इच्छा से। सारा संसार जिस भीषण संकट मे पड़ा है, उसी मे भारत भी पड़ा है। संसार की आँखे तो खुल रही है, पर दु ख है कि भारत की आँखे नही खुल रही है। सारे संसार की तरह भारत का भी ईश्वर ही रक्षक है। और नहीं तो सब की तरह हमे भी बुरे दिन ही सामने दिखाई दे रहे हैं।

पुनश्च—जब पूर्ण प्रयत्न करने के बाद भी सरकार ने कांग्रेस की भाषण-स्वातन्त्र्य की माँग को स्वीकार नही किया तो इसी मुद्दे पर महात्मा गांधी ने युद्धघोषणा कर दी। महात्मा गांधी ने श्री विनोबा भावे को प्रथम सत्याग्रही चुना और गत १७ अक्टूबर को उन्होंने सत्याग्रह शुरू किया। श्री विनोबा भावे वर्धा मे महात्मा गांधी के श्रेष्ठतम अनुयायियो मे से है। अहिंसा पर उनका पूर्ण विश्वास है। सरकार ने विनोबा को गिरफ्तार कर लिया और ३ महीने की सजा दी। पं० जवाहरलाल नेहरू वर्धा से लौटते हुए छिवकी स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हे ४ साल की सख्त सजा दे दी गई।

भविष्य मे घटनाये क्या रंग लाती है कौन जानता है ?

सस्ता साहित्य मण्डल की

सर्वोदय साहित्य माला के प्रकाशन

[नोट—*चिन्हित पुस्तकें अप्राप्य हैं]

१. दिव्य-जीवन |=)
२. जीवन-साहित्य १|)
३. तामिल वेद |||)
४. भारत मे व्यसन और व्यभिचार |||=)
५. सामाजिक कुरीतियाँ* |||)
६. भारत के स्त्री-रत्न ३)
७. अनोखा* १|=)
८ ब्रह्मचर्य-विज्ञान |||=)
६. यूरोप का इतिहास २)
१०. समाज-विज्ञान |||)
११. खद्दर का संपत्ति-शास्त्र* |||=)
१२. गोरो का प्रभुत्व* |||=)
१३. चीन की आवाज* |–)
१४. द. अ. का सत्याग्रह १|)
१५. विजयी बारडोली* २)
१६. अनीति की राह पर ||=)
१७. सीता की अग्निपरीक्षा |–)
१८. कन्या-शिक्षा |)
१६ कर्म योग |=)
२०. कलवार की करतूत =)
२१, व्यावहारिक सभ्यता ||)
२२. अँधेरे मे उजाला ||)
२३ स्वामी जी का बलिदान* |–)
२४. हमारे जमाने की गुलामी* |)
२५. स्त्री और पुरुष ||)
२६. सफाई |=)
२७. क्या करें ? १)
२८ हाथ की कताई-बुनाई* ||–)
२६. आत्मोपदेश* |)
३०. यथार्थ आदर्श जीवन* |||–)
३१. [देखो नवजीवन माला]
३२. गंगा गोविन्दसिंह* ||=)
३३. श्री रामचरित्र १|)
३४. आश्रम-हरिणी* |)
३५. हिंदी मराठी कोष २)
३६. स्वाधीनता के सिद्धान्त* ||)
३७. महान् मातृत्व की ओर |||=)
३८ शिवाजी की योग्यता |=)
३६. तरंगित हृदय* ||)
४०. हालैण्ड की राज्यक्रांति १||)
४१ दुखी दुनिया |=)
४२. जिन्दा लाश* ||)
४३ आत्मकथा १), १||)
,, [संक्षिप्त संस्करण] ||)
४४. जब अंग्रेज आये* १|=)
४५ जीवन-विकास १|)
४६. किसानो का बिगुल* =)
४७. फाँसी |=)

४८ [देखो नवजीवन माला]
४६. स्वर्ण विहान* ।≈)
५०. मराठों का उत्थान और पतन २।।)
५१. भाई के पत्र १)
५२. स्वगत ।≈)
५३. युग धर्म* १≈)
५४ स्त्री-समस्या १।।।)
५५ विदेशी कपड़े का मुकाबिला ।।≈)
५६ चित्रपट ।≈)
५७. राष्ट्रवाणी* ।।≈)
५८. इग्लैंड मे महात्मा जी ।।)
५६. भावी क्रांति का सगठन ('रोटी के सवाल' का नयासंस्करण)।।।)
६०. दैवी संपद् ।≈)
६१. जीवन-सूत्र ।।।)
६२ हमारा कलंक ।।≈)
६३ बुद्बुद् ।।)
६४. सघर्ष या सहयोग ? १।।)
६५ गांधी-विचार-दोहन ।।।)
६६ एशिया की क्रांति* १।।।)
६७ हमारे राष्ट्र निर्माता १।।)
६८. स्वतंत्रता की ओर १।।)
६६. आगे बढ़ो ।।)
७०. बुद्धवाणी ।।≈)
७१. कॉंग्रेस का इतिहास २।।) ।–)
७२. हमारे राष्ट्रपति १)
७३. मेरी कहानी २।।)
७४. झलक ८) ≈)
७५. हमारी पुत्रियाँ कैसी हों ? ।।)
७६ नया शासन विधान ।।।)
७७ [१] हमारे गाँवकी कहानी ।।)
७८. [२] महाभारत के पात्र १)
७६. गाँवों का सुधार संगठन १)
८०. [३] सन्तवाणी ।।)
८१. विनाश या इलाज ? ।।।)
८२. [४] अंग्रेजी राज्य मे हमारी दशा ।।)
८३. [५] लोक-जीवन ।।)
८४. गीता-मथन १।।)
८५. [६] राजनीति प्रवेशिका ।।)
८६. [७] हमारे अधिकार और कर्तव्य ।।)
८७. गांधीवाद. समाजवाद ।।।)
८८. स्वदेशी : ग्रामोद्योग ।।)
८६. [८] सुगम चिकित्सा ।।)
६०. प्रेम मे भगवान् ।।)
६१. महात्मा गांधी ।≈)
६२. [१०] गांव और किसान ।।)
६३. ब्रह्मचर्य ।।)
६४. गांधी-अभिनन्दन-ग्रन्थ २)
६५. हिन्दुस्तान की समस्याये १)
६६. जीवन सदेश ।।)
६७. समन्वय २)
६८. समाजवाद : पूँजीवाद ।।।)
६६. मेरी मुक्ति की कहानी ।।)
१०० खादी मीमांसा १।।)
१०१. बापू ।।।)
१०२. दुनिया की शासन-प्रणालियाँ १।।)

'नवजीवनमाला' की पुस्तकें

१ **गीताबोध**—महात्मा गांधी-कृत गीता का सरल तात्पर्य—(दूसरी बार) —)॥

२ **मंगल प्रभात**—महात्मा गांधी के जेल से लिखे सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि व्रतो पर प्रवचन (चौथी बार) —)

३ **अनासक्तियोग**—महात्मा गांधी-कृत गीता की टीका (सातवीं बार) =), ≡), ।)

४. **सर्वोदय**—रस्किन के 'Unto This Last' का गांधीजी द्वारा किया गया रूपान्तर (तीसरी बार) —)

५. **नवयुवकों से दो बातें**—प्रिंस क्रोपाटकिन के 'A word to youngmen' का अनुवाद (तीसरी बार) —)

६. **हिन्द-स्वराज**—महात्मा गान्धी की भारत की मौजूदा समस्याओ पर लिखी गई प्राचीन पुस्तक, जो आज भी ताजी है—(दूसरी बार) ≡)

७ **गांधीजी का मार्ग**—आचार्य कृपालानी ने इस पुस्तिका मे बड़ी सरलता से बताया है कि आज के कशमकश के जमाने में हमे गांधीजी के बताये रास्ते से ही आजादी मिल सकती है —)

८. **किसानों का सवाल**—डा० अहमद की इस छोटी-सी पुस्तिका मे भारत के इन गरीब प्रतिनिधियो के सवाल पर बड़ी सुन्दरता से विचार किया गया है। (तीसरी बार) =)

९. **ग्राम सेवा**—ग्राम-सेवा के रूप, साधन और प्रकार पर महात्मा गांधी ने इसमे विशद प्रकाश डाला है। (दूसरी बार) =)

१०. **खादी और गादी की लड़ाई**—आचार्य विनोबा के खादी और समाज-सेवा-सम्बन्धी लेख और व्याख्यानो का संग्रह =)

११. **मधुमक्खी-पालन**—श्री चित्रे ने इस पुस्तक मे मधु-मक्खियो के पालने के बारे में प्रकाश डाला है और बताया है कि किस प्रकार हम इस ग्रामोद्योग के द्वारा बेकारों को काम दे सकते हैं =)

१२. **गांवों का आर्थिक सवाल**—गाँवो के आर्थिक प्रश्नो तथा उनको हल करने की योजनाओ का ग्राम-सेवक विद्यालय के अध्यापक श्री झवेरभाई पटेल ने इस पुस्तक मे संग्रह किया है ≡)

१३. **राष्ट्रीय गायन**—देश-भक्तिपूर्ण राष्ट्रीय गायनो का संग्रह (दूसरी बार) =)

१४. **खादी का महत्व**—श्री गुलजारीलाल नन्दा-द्वारा लिखा खादी-विषयक प्रामाणिक और खादी की महत्ता और उपयोगिता बताने वाला निबंध। -)॥

१५. **जब अंग्रेज़ नहीं आये थे**—अंग्रेजो के आने से पहले भारत की दशा। ≡)

सामयिक साहित्य माला की पुस्तकें

१. कांग्रेस का इतिहास (१६३५-३६) ।-)
२. दुनिया का रंगमच (जवाहरलाल नेहरू) =)
३. हम कहाँ हैं ? " " =)
४. युद्ध-संकट और भारत (संकलन) ।)
५. सत्याग्रह : क्यो, कब, कैसे ? (गांधीजी) ≡)
६. राष्ट्रीय-पंचायत—(संग्रह) ।)

बाल साहित्य माला की पुस्तकें

१. सीख की कहानियाँ—१ =)
२. कथा-कहानी—१ =)
३. शिवाजी चरित्र =)
४. देश-प्रेम की कहानियाँ—१ =)
५. सीख की कहानियाँ—२ =)